॥ श्री सुधर्मास्वामीने नमः ॥

अहो ! श्रुतम् - स्वाध्याय संग्रह [१४]

श्रीवीतरागस्तोत्रम्

[गाथा और अर्थ]

–: प्रकाशक :–

श्री आशापूरण पार्श्वनाथ जैन ज्ञानभंडार

साबरमती, अहमदाबाद

॥ श्री सुधर्मास्वामीने नमः ॥

अहो ! श्रुतम् - स्वाध्याय संग्रह [१४]

श्रीवीतरागस्तोत्रम्

[गाथा और अर्थ]

—: कर्ता :—

कलिकाल सर्वज्ञ श्रीहेमचंद्राचार्यजी

—: अनुवादक :—

श्रीमद्विजयसुशीलसूरिजी

—: संकलन :—

श्रुतोपासक

—: प्रकाशक :—

श्री आशापूरण पार्श्वनाथ जैन ज्ञानभण्डार

शा. वीमळाबेन सरेमल जवेरचंदजी बेडावाळा भवन

हीराजैन सोसायटी, साबरमती, अमदाबाद-३८०००५

Mo. 9426585904

email - ahoshrut.bs@gmail.com

प्रकाशक : श्री आशापूरण पार्श्वनाथ जैन ज्ञानभण्डार

प्रकाशक : संवत २०७४

आवृत्ति : प्रथम

ज्ञाननिधि में से

पू. संयमी भगवंतो और ज्ञानभण्डार को भेट...

गृहस्थ किसी भी संघ के ज्ञान खाते में

३० रुपये अर्पण करके मालिकी कर सकते हैं।

प्राप्तिस्थान :

(१) सरेमल जवेरचंद फाईनफेब (प्रा.) ली.

672/11, बोम्बे मार्केट, रेलवेपुरा, अहमदाबाद-३८०००२

फोन : 22132543 (मो.) 9426585904

(२) कुलीन के. शाह

आदिनाथ मेडीसीन, Tu-02 शंखेश्वर कोम्पलेक्ष, कैलाशनगर, सुरत

(मो.) 9574696000

(३) शा. रमेशकुमार एच. जैन

A-901 गुंदेचा गार्डन, लालबाग, मुंबई-१२.

(मो.) 9820016941

(४) श्री विनीत जैन

जगद्गुरु हीरसूरीश्वरजी जैन ज्ञानभण्डार,

चंदनबाला भवन, १२९, शाहुकर पेठ के पास, मीन्ट स्ट्रीट, चेन्नाई-१

फोन : 044-23463107 (मो.) 9389096009

(५) शा. हसमुखलाल शान्तीलाल राठोड

७/८ वीरभारत सोसायटी, टीम्बर मार्केट, भवानीपेठ, पूना.

(मो.) 9422315985

मुद्रक : विरति ग्राफिक्स, अहमदाबाद, मो. **8530520629**

Email Id: Virtigrafics2893@gmail.com

प्रथम प्रकाशः

यः परात्मा परं ज्योतिः, परमः परमेष्ठिनाम् ।
आदित्यवर्णं तमसः, परस्तादामनन्ति यम् ॥१॥

अर्थ - जो (सर्व संसारी जीवों से श्रेष्ठ स्वरूपवाले) परमात्मा हैं, केवलज्ञानमय हैं, पंचपरमेष्ठी में प्रधान-मुख्य हैं, तथा अज्ञान के उस पार पहुँचे हैं और सूर्य के समान प्रकाश करने वाले हैं इस तरह पण्डितजन मानते हैं । (१)

सर्वे येनोदमूल्यन्त, समूलाः क्लेशपादपाः ।
मूर्ध्ना यस्मै नमस्यन्ति, सुरासुरनरेश्वराः ॥२॥

अर्थ - जिसने (समस्त रागद्वेषादिक) क्लेशकारी वृक्षों को जड़मूल से उखाड़ दिये हैं। और जिनको सुरपति, असुरपति तथा नरपति अपने मस्तक द्वारा नमस्कार करते हैं। (२)

प्रावर्तन्त यतो विद्याः, पुरुषार्थप्रसाधिकाः ।
यस्य ज्ञानं भवद्भावि, भूतभावावभासकृत् ॥३॥

जिससे धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूपी पुरुषार्थ को सिद्ध करने वाली शुद्धविद्यादिक, चौदह विद्याएँ प्रवर्ती हैं । और जिनका ज्ञान अतीतकालीन (भूतकालीन), अनागतकालीन (भविष्यकालीन) तथा वर्तमानकालीन वस्तु-पदार्थ मात्र को प्रकाश करने वाला है। (३)

यस्मिन्विज्ञानमानन्दं, ब्रह्म चैकात्मतां गतम् ।
स श्रद्धेयः स च ध्येयः, प्रपद्ये शरणं च तम् ॥४॥

अर्थ – जिसमें विज्ञान (अर्थात् केवलज्ञान), आनंद (अर्थात् अखंड सुख) और ब्रह्म (अर्थात् परमपद) वे तीन एकता को पाये हुए हैं । वे (सर्वज्ञ–वीतराग) श्रद्धा और ध्यान करने योग्य हैं । ऐसे परमात्मा का शरण मैं स्वीकार करता हूँ । (४)

तेनस्यां नाथवाँस्तस्मै, स्पृहयेयं समाहितः ।
ततः कृतार्थो भूयासं, भवेयं तस्यकिङ्करः ॥५॥

(समस्त क्लेशरहित) इन प्रभु से मैं सनाथ हूँ। (समस्त सुरासुर से वंदित–इन्हीं प्रभु को मैं एक मन से वांछता हूँ। उन्हीं से मैं कृतकृत्य हूँ और (त्रिकाल वेदी ऐसे) उस प्रभु का ही मैं किंकर हूँ। (५)

तत्र स्तोत्रेण कुर्यां च, पवित्रां स्वां सरस्वतीम् ।
इदं हि भवकान्तारे, जन्मिनां जन्मनः फलम् ॥६॥

अर्थ – इन प्रभु की स्तुति–स्तोत्र के द्वारा मैं अपनी वाणी को पवित्र करता हूँ, कारण कि इस भवाटवी में प्राणियों को जन्म पाने का यही फल है। (६)

क्वाऽहं पशोरपि पशु–र्वीतरागस्तवः क्वच ? ।
उत्तितीर्षुररण्यानीं, पद्भ्यां पङ्गुरिवास्म्यतः ॥७॥

अर्थ – पशु से भी पशु जैसा कहाँ मैं ! और कहाँ (बृहस्पति से भी अशक्य ऐसी) वीतराग की स्तुति ! अतः पैरों से महाअटवी को उल्लंघन करने की इच्छा वाले लंगड़े

जैसा मैं हूँ। (अर्थात् यह मेरा आचरण महासाहसरूप होने से हँसने जैसा है) । (७)

तथापि श्रद्धामुग्धोऽहं, नोपालभ्यः स्खलन्नपि ।
विश्रृंङ्खलापि वाग्वृत्तिः, श्रद्धानस्य शोभते ॥८॥

अर्थ - तो भी श्रद्धा से मुग्ध ऐसा मैं (प्रभु की स्तुति करने में) स्खलना हो जाए तो भी उपालम्भ के योग्य नहीं हूँ, कारण कि श्रद्धालु के सम्बन्ध रहित वचन रचना भी शोभा पाती है। (८)

श्रीहेमचन्द्रप्रभवाद्-वीतरागस्तवादितः ।
कुमारपालभूपालः, प्राप्नोतु फलमीप्सितम् ॥९॥

अर्थ - श्री हेमचन्द्रसूरिजी द्वारा कथित इस श्री वीतराग स्तोत्र से कुमारपाल भूपाल इच्छित (श्रद्धा विशुद्धि और कर्मक्षयरूप) फल को प्राप्त करें। (९)

● ● ●

द्वितीय प्रकाशः

प्रियङ्गुस्फटिकस्वर्ण-पद्मरागाञ्जनप्रभः ।
प्रभो ! तवाधौतशुचिः, कायः कमिव नाक्षिपेत् ? ॥१॥

अर्थ - हे प्रभो ! प्रियंगुवत् (नील), स्फटिकवत् (उज्ज्वल), स्वर्णवत् (पीत), पद्मरागवत् (रक्त) और अंजनवत् (श्याम) वर्ण की कान्ति के समान तथा धोये बिना ही सर्वदा पवित्र ऐसा आपका देह-शरीर, देव-मनुष्यादिक किसको चकित नहीं करता ? अर्थात् सबको चकित करता है। (१)

मन्दारदामवन्नित्य-मवासितसुगन्धिनि ।
तवाङ्गे भृङ्गतां यान्ति, नेत्राणि सुरयोषिताम् ॥२॥

अर्थ - कल्पवृक्ष की माला की भांति सदा स्वभाव से ही सुगन्धयुक्त आपके अंग पर देवांगनाओं के नेत्र भ्रमरत्व प्राप्त करते हैं। (२)

दिव्यामृतरसास्वाद-पोषप्रतिहता इव ।
समाविशन्ति ते नाथ !, नाङ्गे रोगोरगव्रजाः ॥३॥

अर्थ - हे नाथ ! दिव्य अमृतरस के आस्वादन की पुष्टि से जैसे पराभव प्राप्त किया हो, वैसे कासश्वासादिक रोगरूपी सर्प का समूह आपके देह में व्याप्त नहीं हो सकता है (अर्थात् आप सर्वदा रोगरहित हों। (३)

त्वय्यादर्शतलालीन-प्रतिमाप्रतिरूपके ।
क्षरत्स्वेदविलीनत्व-कथाऽपि वपुषः कुतः ? ॥४॥

अर्थ - आप दर्पण में प्रतिबिम्बित रूप के समान निर्मल होने से आपका देह झरते हुए पसीने से व्याप्त हो गया है । ऐसी कथा भी कहाँ से हो ? । (४)

न केवलं रागमुक्तं, वीतराग ! मनस्तव ।
वपुः स्थितं रक्तमपि, क्षीरधारासहोदरम् ॥५॥

अर्थ - हे वीतराग ! केवल आपका मन रागरहित हुआ है, ऐसा नहीं है, बल्कि आपके शरीर में बहता हुआ रक्त (रुधिर) भी दूध की धारा की तरह उज्ज्वल है । अर्थात् आपके रुधिर में से भी स्वाभाविक राग-रंग-लालसा चली गई है । (५)

जगद् विलक्षणं किं वा, तवान्यद्वक्तुमीश्महे ? ।
यदविस्त्रमबीभत्सं, शुभ्रं मांसमपि प्रभो ! ॥६॥

अर्थ - तथा विश्व से विलक्षण ऐसा आपका अन्य वर्णन हम क्या कर सकते ? कारण कि हे प्रभु । आपके शरीर का मांस भी दुर्गन्ध और दुगंच्छारहित (गाय के दूध के समान) श्वेत है । (६)

जलस्थलसमुद्भूताः, संत्यज्य सुमनः स्त्रजः ।
तव निःश्वाससौरभ्य-मनुयान्ति मधुव्रताः ॥७॥

अर्थ - हे वीतराग ! भ्रमरगण जल में या स्थल में

उत्पन्न पुष्पों तथा उनकी बनी हुई मालाओं को छोड़कर आपके निःश्वास की सुगन्ध लेने के लिए (आपके वदन-कमल के पास) आते हैं। (७)

लोकोत्तरचमत्कार-करी तव भवस्थितिः ।
यतो नाहारनीहारौ, गौचरश्चर्मचक्षुषाम् ॥८॥

अर्थ - (हे प्रभो !) आपके भव की स्थिति लोकोत्तर चमत्कार करने वाली है, कारण कि आपके आहार और निहार को चर्मचक्षु वाले मनुष्य नहीं देख सकते हैं। (८)

• • •

तृतीय प्रकाशः

सर्वाभिमुख्यतो नाथ !, तीर्थकृन्नामकर्मजात् ।
सर्वथा सम्मुखीनस्त्व-मानन्दयसि यत्प्रजाः ॥१॥

अर्थ - हे नाथ ! तीर्थङ्कर नामकर्मजनित सर्वाभिमुख्य नाम के अतिशय से आप केवलज्ञान के प्रकाश द्वारा सर्वथा समस्त दिशाएँ सन्मुख होते हुए देव, मनुष्यादिक प्रजा को प्रतिक्षण आनन्द प्राप्त कराते हैं । (१)

यद्योजनप्रमाणेऽपि, धर्मदेशनसद्मनि ।
संमान्ति कोटिशस्तिर्यग्नृदेवाः सपरिच्छदाः ॥२॥

अर्थ - एक योजन यानी चार कोस प्रमाण धर्मदेशना के स्थानरूप समवसरण में परिवारयुक्त करोड़ों देवताओं, मनुष्य और तिर्यञ्च आपके प्रभाव से सुखपूर्वक समा सकते हैं । (२)

तेषामेव स्वस्वभाषा-परिणाममनोहरम् ।
अप्येकरूपं वचनं, यत्ते धर्मावबोधकृत् ॥३॥

अर्थ - आपका एक समान वचन उपदेश देव, मनुष्य और तिर्यञ्चों को अपनी-अपनी भाषा में सुखपूर्वक समझ सकने योग्य हैं और धर्म सम्बन्धी बोध को कराने वाले हैं । (३)

साऽग्रेपि योजनशते, पूर्वोत्पन्ना गदाम्बुदाः ।
यदञ्जसा विलीयन्ते, त्वद् विहारानिलोर्मिभिः ॥४॥

अर्थ – अपने विहाररूपी पवन की लहरों से सवा सो (१२५) योजन में पूर्व से उत्पन्न हुए रोगरूपी बादल तत्काल अदृश्य हो जाते हैं। (४)

नाविर्भवन्ति यद्भूमौ, मूषकाः शलभाः शुकाः ।
क्षणेन क्षितिपक्षिप्ता, अनीतय इवेतयः ॥५॥

अर्थ – राजा के द्वारा दूर की हुई अनीति की भांति जहाँ आप विचरण करते हैं वहाँ चूहे, तीड़ और शुक्रादिक पक्षि धान्य को नुकसान करने वाले उपद्रव नहीं कर सकते अर्थात् आपके प्रभाव से सारे उपद्रव दूर हो जाते हैं। (५)

स्त्रीक्षेत्रपद्रादिभवो, यद् वैराग्निः प्रशाम्यति ।
त्वत् कृपापुष्करावर्त-वर्षादिव भुवस्तले ॥६॥

अर्थ – आपकी कृपारूप पुष्करावर्त मेघ की वर्षा से ही न हो वैसे जहाँ आपके चरण पड़ते हैं वहाँ स्त्री, क्षेत्र और सीमादिक से उत्पन्न समस्त विरोधरूप अग्नि शान्त हो जाते हैं। (६)

त्वत् प्रभावे भुवि भ्राम्य-त्यशिवोच्छेदडिण्डिमे ।
सम्भवन्ति न यन्नाथ ?, मारयो भुवनारयः ॥७॥

अर्थ – हे नाथ ! उपद्रवों का उच्छेद करने के लिये डिण्डिम ढोल बजाने के जैसा आपका प्रभाव भूमि पर प्रसरने से मारी (प्लेग) आदि विश्व के काल जैसा रोग-उपद्रव उत्पन्न ही नहीं होते। (७)

कामवर्षिणि लोकानां, त्वयि विश्वैकवत्सले ।
अतिवृष्टिरवृष्टिर्वा, भवेद्यन्नोपतापकृत् ॥८॥

अर्थ - विश्व के उपकारी और लोगों के मनवांच्छित को देने वाले (हे प्रभो !) आप विद्यमान होने से लोगों को संताप करने वाली ऐसी अतिवृष्टि या अनावृष्टि होती ही नहीं । (८)

स्वराष्ट्र-परराष्ट्रेभ्यो, यत् क्षुद्रोपद्रवा द्रुतम् ।
विद्रवन्ति त्वत् प्रभावात्, सिंहनादादिव द्विपाः ॥९॥

अर्थ - स्वचक्र (स्वराज्य) और परचक्र (परराज्य) से उत्पन्न हुआ क्षुद्र उपद्रव; सिंहनाद से जैसे हाथी भाग जाते हैं, वैसे आपके प्रभाव से तत्काल नष्ट हो जाते हैं । (९)

यत् क्षीयते च दुर्भिक्षं, क्षितौ विहरति त्वयि ।
सर्वाद्भुतप्रभावाढये, जङ्गमे कल्पपादपे ॥१०॥

अर्थ - समस्त अद्भुत प्रभावशाली और जंगम कल्पवृक्ष के समान आपके पृथ्वी पर विचरने से दुर्भिक्ष-दुष्काल दूर हो जाते हैं । (१०)

यन्मूर्ध्नः पश्चिमे भागे, जितमार्त्तण्डमण्डलम् ।
माभूद्वपुर्दुरालोक-मितीवोत्पिण्डितं महः ॥११॥

अर्थ - सूर्य से भी अधिक प्रभाव वाला भामण्डल आपके देह (शरीर) को देखने में किसी को रुकावट (आड) न हो सके इसलिये देवताओं ने उसको आपके मस्तक के पीछे स्थापन किया है । (११)

स एष योगसाम्राज्य-महिमा विश्वविश्रुतः ।
कर्मक्षयोत्थो भगवन् !, कस्य नाश्चर्यकारणम् ? ॥१२॥

अर्थ – हे भगवन् ! धाती कर्म के क्षय से उत्पन्न लोकप्रसिद्ध योगसाम्राज्य की महिमा किस सचेतन प्राणी के लिए आश्चर्यकारी नहीं होती ? अर्थात् समस्त सचेतन प्राणी समुदाय के लिए आश्चर्यकारी होती है । (१२)

अनन्तकालप्रचित-मनन्तमपि सर्वथा ।
त्वत्तो नान्यः कर्मकक्ष-मुन्मूलयति मूलतः ॥१३॥

अर्थ – अनन्तकाल से उपार्जन किये हुए और अन्त रहित कर्मरूपी वन आपके अतिरिक्त कोई भी समस्त प्रकार से मूल से उच्छेद नहीं कर सकता । (१३)

तथोपाये प्रवृत्तस्त्वं, क्रियासमभिहारतः ।
यथानिच्छन्नुपेयस्य, परां श्रियमाशिश्रियः ॥१४॥

अर्थ – हे प्रभो ! चारित्ररूप उपाय में पुनः पुनः अभ्यास से आप इतने प्रवृत्त हो गये हैं कि परमपद की श्रेष्ठ संपदारूप तीर्थंकर पदवी नहीं चाहते हुए भी आपको प्राप्त हुई है। (१४)

मैत्रीपवित्रपात्राय, मुदितामोदशालिने ।
कृपोपेक्षाप्रतीक्षाय, तुभ्यं योगात्मने नमः ॥१५॥

अर्थ – मैत्री भावना के पवित्र स्थानरूप, पुष्ट प्रमोद भावना से शोभित तथा करुणा भावना और माध्यस्थ भावना द्वारा पूज्य ऐसे योगस्वरूपी आपको हमारा नमस्कार हो। (१५)

चतुर्थ प्रकाशः

मिथ्यादृशां युगान्तार्कः, सुदृशाममृताञ्जनम् ।
तिलकं तीर्थकृल्लक्ष्म्याः, पुरश्चक्रं तवैधते ॥१॥

अर्थ – मिथ्यादृष्टि प्राणियों को प्रलयकाल के सूर्य की तरह संताप करने वाला, और सम्यग्दृष्टि जीवों को अमृत के अंजन की भांति शान्ति देने वाला ऐसा तीर्थंकरलक्ष्मी के तिलक समान धर्मचक्र आपके सामने देदीप्यमान हो रहा है। (१)

एकोऽयमेव जगति, स्वामीत्याख्यातमुच्छ्रिता ।
उच्चैरिन्द्रध्वजव्याजात्, तर्जनी जंभविद्विषा ॥२॥

अर्थ – विश्व में यह वीतराग ही एक स्वामी है, ऐसा बताने के लिये इन्द्र महाराजा ने ऊंचे इन्द्रध्वज के बहाने अपनी तर्जनी ऊँगुली ऊँची की है, ऐसा लगता है। (२)

यत्र पादौ पदं धत्त-स्तव तत्र सुरासुराः ।
किरन्ति पङ्कजव्याजा-च्छ्रियं पङ्कजवासिनीम् ॥३॥

अर्थ – हे प्रभो ! जहाँ आपके चरण पड़ते हैं। वहाँ देवदानव नौ सुवर्ण कमल के बहाने से कमल में स्थित लक्ष्मी का विस्तार करते हैं। (३)

दानशीलतपोभाव-भेदाद् धर्मं चतुर्विधम् ।
मन्ये युगपदाख्यातुं, चतुर्वक्त्रोऽभवद्भवान् ॥४॥

अर्थ – दान, शील, तप और भावरूप चार प्रकार के धर्म को एक साथ कथन करने के लिये आप चतुर्मुख बने हैं, ऐसा मैं मानता हूँ। (४)

त्वयि दोषत्रयात् त्रातुं, प्रवृत्ते भुवनत्रयीम् ।
प्राकारत्रितयं चक्रु-स्त्रयोऽपि त्रिदिवौकसः ॥५॥

अर्थ – राग, द्वेष और मोहरूप तथा मन, वचन और काया सम्बन्धी तीन दोषों से त्रिभुवन को बचाने के लिये आप प्रवृत्त होने से तीन प्रकार के [वैमानिक, ज्योतिषी और भुवनपति] देवों ने रत्नमय, सुवर्णमय और रूप्यमय तीन गढ़ों की रचना की है। (५)

अधोमुखाः कण्टकाः स्यु-र्धात्र्यां विहरतस्तव ।
भवेयुः सम्मुखीनाः किं, तामसास्तिग्मरोचिषः ? ॥६॥

अर्थ – [प्रभो !] जब पृथ्वी पर आप विचरण करते हैं, तब कण्टक–काँटे भी अधोमुखी (नीचे मुख वाले–उल्टे) हो जाते हैं। जब सूर्य का उदय हो जाता है तब उल्लू अथवा अन्धकार का समूह क्या टिक सकता है ? [अर्थात्–आप जैसे सूर्य के उदय होने पर तत्काल मिथ्यात्वरूपी उल्लू और अज्ञानरूपी तिमिर–अन्धकार का समुदाय दूर हो जाता है।] (६)

केशरोमनखश्मश्रु, तवावस्थितमित्ययम् ।
बाह्योऽपि योगमहिमा, नाप्तस्तीर्थङ्करैः परैः ॥७॥

अर्थ - केश, रोम, नाखून और दाढी-मूंछ (आपके) दीक्षा ग्रहण के समय जिस तरह साफ किये हुए होते हैं । उसी भांति रहते हैं । अंशमात्र भी बढ़ते नहीं हैं ऐसा यह बाह्य (प्रकट) योग महिमा भी दूसरे हरिहरादिक देवों ने नहीं प्राप्त किया हैं तो फिर अन्तरङ्ग (सर्वाभि-मुख्यतादिक) योग की बात तो बहूत दूर है । (७)

शब्दरूपरसस्पर्श-गन्धाख्याः पञ्च गोचराः ।
भजन्ति प्रातिकूल्यं न, त्वदग्रे तार्किका इव ॥८॥

अर्थ - [हे वीतराग प्रभो !] (नैयायिकादिक-) तर्क वादियों की तरह शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्शरूप पाँचों इन्द्रियों के विषय आपके आगे अनुकूलता को भजते हैं । प्रतिकूलता में (नहीं) रहते हैं । (८)

त्वत्पादावृतवः सर्वे, युगपत्पर्युपासते ।
आकालकृतकन्दर्प-साहय्यकभयादिव ॥९॥

अर्थ - अनादिकाल से आपके विरोधी कामदेव को सहायक होने के भय से ही होते हुवे समकाले सर्व ऋतु आकर आपके चरणकमल की सेवा करते हैं । (९)

सुगन्ध्युदकवर्षेण, दिव्यपुष्पोत्करेण च ।
भावित्वत्पादसंस्पर्शां, पूजयन्ति भुवं सुराः ॥१०॥

अर्थ - जिस भूमि पर आपका चरण स्पर्श होने वाले हैं उस भूमि को देवता सुगन्धित जल की वृष्टि द्वारा तथा पंचवर्ण के पुष्पपुञ्ज द्वारा पूजते हैं। (१०)

जगत्प्रतीक्ष्य ! त्वां यान्ति, पक्षिणोऽपि प्रदक्षिणम् ।
का गतिर्महतां तेषां, त्वयि ये वामवृत्तयः ? ॥११॥

अर्थ - [हे त्रैलोक्यपूज्य ! प्रभो !] अज्ञानी ऐसे पक्षी भी आपकी प्रदक्षिणा करते हैं, तो फिर विवेकी और बुद्धिशाली होते हुए आपके प्रति जो प्रतिकूल व्यवहार कर रहे हैं। ऐसे मनुष्यों की क्या गति होगी ?। (११)

पञ्चेन्द्रियाणां दौः शील्यं, क्व भवेद् भवदन्तिके ?।
एकेन्द्रियोऽपि यन्मुञ्चत्यनिलः प्रतिकूलताम् ॥१२॥

अर्थ - संज्ञीपञ्चेन्द्रिय मनुष्यादिक प्राणी की दुष्टता आपके पास कहाँ रहे ? कारण कि एकेन्द्रिय ऐसा वायु भी प्रतिकूलता को छोड़ देता है। (तो फिर अन्य का तो कहना ही क्या ?) अर्थात्-पवन (वायु) भी सुखकारक ही चलता है। (१२)

मूर्ध्ना नमन्ति तरवस्त्वन्माहात्म्यचमत्कृताः ।
तत् कृतार्थं शिरस्तेषां, व्यर्थं मिथ्यादृशां पुनः ॥१३॥

अर्थ – [हे प्रभो !] वृक्ष भी आपके माहात्म्य से चमत्कार पाकर आपको मस्तक द्वारा नमस्कार करते हैं। उससे उन्हींके मस्तक कृतार्थ हैं, और मिथ्यादृष्टि आपको नमन नहीं करते हैं उससे उन्हींके मस्तक व्यर्थ हैं। (१३)

जघन्यतः कोटिसङ्ख्यास्त्वां सेवन्ते सुरासुराः ।
भाग्यसंभारलभ्येऽर्थे, न मन्दा अप्युदासते ॥१४॥

अर्थ – [हे प्रभो !] जघन्य से भी एक कोटि (क्रोड) सुर और असुर देव आपकी सेवा करते हैं। कारण कि पुण्य के समूह से प्राप्त हो सके ऐसे पदार्थ में मन्द प्राणी भी उदासीन नहीं रहते, तो पीछे देवता कैसे आलसी होंगे ? अर्थात् नहीं होंगे। (१४)

• • •

पंचम प्रकाशः

गायन्निवालिविरुतै-र्नृत्यन्निव चलैर्दलैः ।
त्वद्गुणैरिव रक्तोऽसौ, मोदते चैत्यपादपः ॥१॥

अर्थ - [हे प्रभो !] आपके देहमान से बारह गुणा ये चैत्यवृक्ष भ्रमर के शब्द द्वारा मानो गान करते हैं, पवन से चलायमान होते हुए पत्तों के द्वारा मानो नृत्य करते हैं और आपके गुणों अत्यन्त द्वारा मानो रक्त (लाल) होते हुए हर्ष प्राप्त करता है । (१)

आयोजनं सुमनसो-ऽधस्तान्निक्षिप्तबन्धनाः ।
जानुदघ्नीः सुमनसो, देशनोर्व्यां किरन्ति ते ॥२॥

अर्थ - [हे प्रभु !] आपकी देशना भूमि (समवसरण) में देवतागण एक योजन तक नीचे मुखवाले जानुप्रमाण पुष्पों को बिखेरते (बरसाते) हैं । (२)

मालवकैशिकीमुख्य-ग्रामरागपवित्रितः ।
तव दिव्यो ध्वनिः पीतो, हर्षोद्ग्रीवैर्मृगैरपि ॥३॥

अर्थ - [हे प्रभो !] वैराग्य को उद्दीपन करने वाले मालव, कौशिकी आदि ग्रामपर्यन्त रागों द्वारा पवित्र होते हुए आपकी दिव्य ध्वनि हर्ष से ऊँची गर्दनवाले मृगों ने भी पीया (सुना) है । (३)

तवेन्दुधामधवला, चकास्ति चमरावली ।
हंसालिरिव वक्त्राब्ज-परिचर्यापरायणा ॥४॥

अर्थ - [हे प्रभो !] चन्द्र के किरणों जैसी उज्ज्वल चमरावली अर्थात् चामर की श्रेणी मानो आपके मुख कमल की सेवा में तत्पर होती हुई हंस की श्रेणी के सामने सुशोभित रही है । (४)

मृगेन्द्रासनमारूढे, त्वयि तन्वति देशनाम् ।
श्रोतुं मृगाः समायान्ति, मृगेन्द्रमिव सेवितुम् ॥५॥

अर्थ - [हे प्रभो !] जब आप सिंहासन पर आरूढ होकर देशना देते हैं, तब आपकी देशना श्रवण करने के लिये हरिण भी आते हैं । वे जानते हैं कि मृगेन्द्र (अपने स्वामी) की सेवा करने के लिये आते हों ऐसा लगता है । (५)

भाषां चयैः परिवृतो, ज्योत्स्नाभिरिव चन्द्रमाः ।
चकोराणामिव दृशां, ददासि परमां मुदम् ॥६॥

अर्थ - [हे प्रभो !] ज्योत्स्ना से परिपूर्ण चन्द्र जिसप्रकार चकोर पक्षी के नेत्रों को आनंद देता है । उसी प्रकार भामण्डल द्वारा परिपूर्ण आप सज्जनों के नेत्रों को आनन्द देते हैं । (६)

दुन्दुभिर्विश्वविश्वेश, पुरो व्योम्नि प्रतिध्वनन् ।
जगत्याप्तेषु ते प्राज्यं, साम्राज्यमिव शंसति ॥७॥

अर्थ - हे सर्व विश्व के (तीन जगत के) स्वामी ! विहार में आपके आगे आकाश में रहकर शब्द करता हुआ

ऐसा देवदुंदुंभि मानो के विश्व के आप्त पुरुषों में आपका ही महा साम्राज्य कहते हुए सुशोभित रहा है । [अर्थात्–सर्व देवों में आपका चक्रवर्त्तीपणा परिलक्षित होता है] । (७)

तवोर्ध्वमूर्ध्वं पुण्यर्द्धि–क्रमसब्रह्मचारिणी ।
छत्रत्रयी त्रिभुवन–प्रभुत्वप्रौढिशंसिनी ॥८॥

अर्थ – [हे प्रभो !] पूर्ण समृद्धि के अनुक्रम के समान आपके मस्तक पर एक ऊपर एक स्थित तीन छत्र तीन जगत के स्वामित्व की विशालता को कहता हो इसप्रकार सुशोभित होते हैं । (८)

एतां चमत्कारकरीं, प्रातिहार्यश्रियं तव ।
चित्रीयन्ते न के दृष्ट्वा, नाथ ! मिथ्यादृशोऽपि हि ॥९॥

अर्थ – हे नाथ ! चमत्कार को करने वाली आपकी प्रातिहार्य लक्ष्मी को देखकर क्या मिथ्यादृष्टि भी आश्चर्य नहीं पाते हैं ? अर्थात्–सर्वजन–आश्चर्य पाते हैं । (९)

● ● ●

षष्ठ प्रकाशः

लावण्यपुण्यवपुषि, त्वयि नेत्रामृताञ्जने ।
माध्यस्थ्यमपि दौःस्थ्याय, किं पुनर्द्वेषविप्लवः ? ॥१॥

अर्थ – [हे प्रभो !] आप लावण्य द्वारा पवित्र देहवाले होने से, प्राणियों के नेत्रों के लिए अमृत के अंजन समान होते हुए आपमें मध्यस्थपणा धारण करने में वह भी महा खेद के लिये है उसमें तो कहना ही क्या ? । (१)

तवापि प्रतिपक्षोऽस्ति, सोऽपि कोपादिविप्लुतः ।
अनया किंवदन्त्यापि, किं जीवन्ति विवेकिनः ? ॥२॥

अर्थ – [हे प्रभो !] आपके भी शत्रु हैं और वे भी क्रोधादि कषाय से व्याप्त हैं । ऐसी वार्त्ता के द्वारा भी क्या विवेकीजन जीवित रह सकते हैं ? नहीं जीवित रह सकते । (२)

विपक्षस्ते विरक्तश्चेत्, स त्वमेवाथ रागवान् ।
न विपक्षो विपक्षः किं, खद्योतो द्युतिमालिनः ? ॥३॥

अर्थ – यदि कदाचित् आपके शत्रु विरागी हों तो वह विरागी आप ही हैं, और जो वे आपके शत्रु रागी हों तो भी वे निश्चित ही शत्रु नहीं हो सकते हैं । क्या खद्योत सूर्य के शत्रु हो सकते हैं ? नहीं हो सकते हैं । (३)

स्पृह्यन्ति त्वद्योगाय, यत्तेऽपि लवसत्तमाः ।
योगमुद्रादरिद्राणां, परेषां तत् कथैव का ? ॥४॥

अर्थ - [हे प्रभो !] वह लवसत्तम (अनुत्तर-विमान-वासी) देव भी आपके योग की स्पृहा करते हैं। तो योगमुद्राएँ (रजोहरणादि के) रहित ऐसे अन्य दर्शनियों को वह योग मार्ग की कथा कहाँ से होगी ? अर्थात् नहीं हो। (४)

त्वां प्रपद्यामहे नाथं, त्वां स्तुमस्त्वामुपास्महे ।
त्वत्तो हि न परस्त्राता, किं ब्रूमः ? किमु कुर्महे ? ॥५॥

अर्थ - हे नाथ ! हम आपको स्वीकार करते हैं। आपकी स्तुति करते हैं, आपकी उपासना (सेवा) करते हैं, आप के अलावा अन्य कोई (देवादि) रक्षक नहीं हैं। इससे अधिक हम क्या बोलें ? क्या करें ? । (५)

स्वयं मलीमसाचारैः, प्रतारणपरैः परैः ।
वंच्यते जगदप्येतत्, कस्य पूत्कुर्म हे पुरः ? ॥६॥

अर्थ - स्वयं मलिन आचार वाले और अन्य को ठगने में तत्पर ऐसे अन्य देव इस समस्त विश्व को ठगते हैं। अतः हे नाथ ! अब हम किसके पास जाकर पुकार करें ? । (६)

नित्यमुक्ताञ्जगज्जन्म-क्षेमक्षयकृतोद्यमान् ।
वन्ध्यास्तनन्धयप्रायान्, को देवांश्चेतनः श्रयेत् ॥७॥

अर्थ - निरन्तर मुक्त तथा विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करने में उद्यमवन्त ऐसे वन्ध्या पुत्र के समान देवों को कौन चेतनावन्त प्राणी आश्रय करे ? [देव स्वरूपे मानें ? अर्थात् न मानें] । (७)

कृतार्था जठरोपस्थ-दुःस्थितैरपि देवतैः ।
भवादृशान्निह्नुवते, हा हा ? देवास्तिकाः परे ॥८॥

अर्थ - अरे ! अरे ! अन्य आस्तिक जठर और उपस्थ (क्षुधा और कामविकार) से दुःखी, ऐसे देवों के द्वारा भी कृतार्थ होकर आपके जैसे वीतराग देवों को छुपाते हैं - निषेध करते हैं, वह अति खेद की बात है । (८)

खपुष्पप्रायमुत्प्रेक्ष्य, किञ्चिन्मानं प्रकल्प्य च ।
संमान्ति देहे गेहे वा, न गेहेनर्दिनः परेः ॥९॥

अर्थ - [हे प्रभो !] घर में ही शूरवीर ऐसे कितने लोग आकाश-पुष्प के जैसे मिथ्या उत्प्रेक्षा (मिथ्या तर्क) करके, तथा कुछ प्रमाण की कल्पना करके अपने देह में और घर में नहीं समाते हैं । [अर्थात्-मेरा ही धर्म श्रेष्ठ है ऐसा मानकर मस्त की तरह रहते हैं] । (९)

कामरागस्नेहरागा-वीषत्करनिवारणौ ।
दृष्टिरागस्तु पापीयान्, दुरुच्छेदः सतामपि ॥१०॥

अर्थ - [हे प्रभो !] कामराग और स्नेहराग इन दोनों का निवारण करना सुलभ है । किन्तु दृष्टिराग तो अत्यन्त पापी है । उसको सत्पुरुष भी दुःखपूर्वक छेद सकते हैं । (१०)

प्रसन्नमास्यं मध्यस्थे, दृशौ लोकम्पृणं वचः ।
इति प्रीतिपदे बाढं, मूढास्त्वय्यप्युदासते ॥११॥

अर्थ – [हे प्रभो !] आपका वदन–मुख प्रसन्न है और आपके दोनों नेत्र मध्यस्थ, (अर्थात् विकार रहित) हैं, तथा आपके वचन लोकों को प्रीतिकारक हैं । इस तरह आप सबको प्रीति करनेवाले होने पर भी मूढ लोग आपके ऊपर उदासीन रहते हैं । (११)

तिष्ठेद्वायुर्द्रवेदद्रि–र्ज्वलेज्जलमपि क्वचित् ।
तथापि ग्रस्तो रागाद्यै–र्नाप्तो भवितुमर्हति ॥१२॥

अर्थ – [हे जिनेन्द्र प्रभो !] कभी वायु स्थिर हो जाय, पर्वत गीला हो जाय और पानी भी अग्नि के समान जाज्वल्यमान हो जाय, फिर भी जो (देव) रागद्वेषादि के द्वारा युक्त हों वे आप्त (हितकारक) होने के योग्य नहीं हैं [अर्थात्–वीतराग के बिना और कोई सच्चे देव को नहीं प्राप्त कर सकता है] । (१२)

• • •

सप्तम प्रकाशः

धर्माधर्मौ विना नाङ्गं, विनाङ्गेन मुखं कुतः ? ।
मुखाद् विना न वक्तृत्वं, तच्छास्तारः परे कथम् ? ॥१॥

अर्थ – धर्म और अधर्म के बिना अर्थात् पुण्य–पाप के बिना शरीर नहीं हो सकता । शरीर बिना मुख कहाँ से होगा ? और मुख के बिना वकतृत्व सम्भव नहीं है, उससे अन्य देव उपदेश दाता कैसे हो सकता है ? [कारण–जो नित्य मुक्त मानते हैं, और शरीरादि रहित मानते हैं, इसलिये वे उपदेश दाता नहीं हो सकते हैं] । (१)

अदेहस्य जगत्सर्गे, प्रवृत्तिरपि नोचिता ।
न च प्रयोजनं किंचित्, स्वातन्त्र्यान्न पराज्ञया ? ॥२॥

अर्थ – तथा देह–शरीर रहित देव की विश्व को उत्पन्न करने में प्रवृत्ति भी उचित नहीं । उसी प्रकार स्वतन्त्र होने के कारण वैसी प्रवृत्ति में कोई भी प्रयोजन नहीं और वे दूसरे की आज्ञा से प्रवृत्त भी नहीं होते हैं । (२)

क्रीडया चेत् प्रवर्तेत, रागवान् स्यात् कुमारवत् ।
कृपयाऽथ सृजेत्तर्हि, सुख्येव सकलं सृजेत् ॥३॥

अर्थ – यदि कदाचित् वे देव क्रीडा से ही विश्व की सृष्टि आदि में प्रवृत्त होते हैं । उस तरह कहें तो उसको बालक की तरह रागवान् कहना पड़ेगा, और यदि कृपा

से सर्जन करते हैं । ऐसा कहते हो तो उन्हें समस्त विश्व-जगत को सुखी ही सर्जन करना चाहिये अर्थात् बनाना चाहिये । (३)

दुःखदौर्गत्यदुर्योनि-जन्मादिक्लेशविह्वलम् ।
जनं तु सृजतस्तस्य, कृपालोः का कृपालुता ? ॥४॥

अर्थ - परन्तु वह तो इष्ट वियोगादिक दुःख, दरिद्रता, दुष्ट योनि और जन्म-मरणादिक क्लेश द्वारा व्याप्त ऐसे लोगों का सर्जन करते हैं । उससे उस कृपालु की कोई कृपालुता समझनी चाहिए ? (४)

कर्मापेक्षः स चेतर्हि, न स्वतन्त्रोऽस्मदादिवत् ।
कर्मजन्ये च वैचिन्ये, किमनेन शिखण्डिना ? ॥५॥

अर्थ - वे कदाचित् तुम्हें ऐसा कहेंगे कि वे देव तो जीवों के कर्म के अनुसार सब करते हैं । तब तो वे देव हमारे जैसे स्वतन्त्र नहीं हैं । यदि कर्म से उत्पन्न विचित्रता मानता हो, तो उस नपुंसक जैसे ईश्वर को मानने से क्या फल ? । (५)

अथस्वभावतो वृत्ति-रवितर्कया महेशितुः ।
परिक्षकाणां तर्ह्येष, परीक्षाक्षेपडिण्डिमः ॥६॥

अर्थ - यदि कदाचित् 'ईश्वर की विश्वसृष्टि सम्बन्धी स्वाभाविक प्रवृत्ति अन्य किसी के तर्क में आ सके, ऐसी नहीं' इस तरह कहेंगे तो परीक्षकों को निषेध करनेवाला यह

डिंडिम यानि ढोल बजाने जैसा है। (६)

सर्वभावेषु कर्तृत्वं, ज्ञातृत्वं यदि सम्मतम्।
मतं नः सन्ति सर्वज्ञा, मुक्ताः कायभृतोऽपि च ॥७॥

अर्थ - यदि 'समस्त पदार्थों का ज्ञान ही कर्त्तृत्व है' इस तरह तुम मानते हो तो यह हमारे द्वारा भी मान्य ही है, कारण कि हमारे जैन शासन में देह-शरीरधारी अरिहन्त सर्वज्ञ (जीवन मुक्त) और देह-शरीर रहित सिद्ध (विदेह मुक्त) ऐसे दो प्रकार के सर्वज्ञ हैं। (७)

सृष्टिवादकुहेवाक-मुन्मुच्येत्यप्रमाणकम्।
त्वच्छासने रमन्ते ते, येषां नाथ ! प्रसीदसि ॥८॥

अर्थ - हे नाथ ! जिनके ऊपर आप प्रसन्न हुए हैं, वे पुरुष उक्त कथनानुसार प्रमाणरहित सृष्टिवाद के कदाग्रह को छोड़कर आपके शासन में ही आनंद पाते हैं। (८)

• • •

अष्टम प्रकाशः

सत्त्वस्यैकान्तनित्यत्वे, कृतनाशाकृतागमौ ।
स्यातामेकान्तनाशेऽपि, कृतनाशाकृतागमौ ॥१॥

अर्थ - हे प्रभो ! पदार्थ की एकान्त नित्यता मानने में कृतनाश (अर्थात् किया हुआ नाश) और अकृतागम (अर्थात् नहीं किये हुए की प्राप्ति) नामक दो दोष लगते हैं । तथा पदार्थ की एकान्त अनित्यता मानने में भी कृतनाश और अकृतागम नामक दो दोष लगते हैं । (१)

आत्मन्येकान्तनित्ये स्यान्न भोगः सुख-दुःखयोः ।
एकान्तानित्यरूपेऽपि, न भोगः सुख-दुःखयो ॥२॥

अर्थ - आत्मा को एकान्त नित्य मानने से सुख-दुःख का भोग नहीं घट सकता । और आत्मा को एकान्त अनित्य मानने से भी सुख-दुःख का भोग नहीं घटता । (२)

पुण्य-पापे बन्ध-मोक्षौ, न नित्यैकान्तदर्शने ।
पुण्य-पापे बन्ध-मोक्षौ, नाऽनित्यैकान्तदर्शने ॥३॥

अर्थ - एकान्त नित्यपक्ष में पुण्य-पाप तथा बन्ध-मोक्ष सम्भव नहीं होता, उसी प्रकार एकान्त अनित्यपक्ष में भी पुण्य-पाप तथा बन्ध-मोक्ष सम्भव नहीं होता । (३)

क्रमाऽक्रमाभ्यां नित्यानां, युज्यतेऽर्थक्रिया न हि ।
एकान्तक्षणिकत्वेऽपि, युज्यतेऽर्थक्रिया न हि ॥४॥

अर्थ - जीव-अजीवादि पदार्थों को एकान्त नित्य मानें तो

क्रम से या अक्रम से उनकी अर्थ क्रिया नहीं घट सकती। उसी तरह एकान्त अनित्य मानने में भी अर्थ क्रिया नहीं घट सकती। (४)

यदा तु नित्यानित्यत्व-रूपता वस्तुनो भवेत्।
यथात्थ भगवन्नैव, तदा दोषोऽस्ति कश्चन ॥५॥

अर्थ - अतः हे भगवन्! जिस तरह आपने कहा है उसी तरह जब पदार्थ का नित्यानित्यता मानें तब किसी भी प्रकार का दोष नहीं लगता। (५)

गुडो हि कफहेतुः स्यान्नागरं पित्तकारणम्।
द्वयात्मनि न दोषोऽस्ति, गुडनागरभेषजे ॥६॥

अर्थ - जिस तरह गुड़ कफ का कारण है और सुंठ पित्त का कारण है, वे दोनों गुड़ और सुंठ रूप औषध में या कफ या पित्त एक भी दोष नहीं है, बल्कि वह पुष्टि का कारण है। (६)

द्वयं विरुद्धं नैकत्राऽ-सत्प्रमाणप्रसिद्धितः।
विरुद्धवर्णयोगो हि, दृष्टो मेचकवस्तुषु ॥७॥

अर्थ - उसी तरह घटादि किसी भी एक वस्तु में नित्यता और अनित्यता वे दोनों मानने से कोई भी विरोध नहीं आता। कारण कि वैसे विरोध (कोई भी प्रत्यक्षादि) विद्यमान प्रमाण द्वारा सिद्ध नहीं हो सकता। अर्थात्-वैसी कोई भी युक्ति नहीं है, जिससे नित्य और अनित्य में विरोध सिद्ध कर सकते हैं कारण कि- [कृष्ण और श्वेतादि] विरुद्धवर्ण का योग पटादि शबल (भिन्न भिन्न विचित्र

वर्णवाली) वस्तु में प्रत्यक्ष देखे जाते हैं। (७)

विज्ञानस्यैकमाकारं, नानाकारकरम्बितम् ।
इच्छंस्तथागतः प्राज्ञो, नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत् ॥८॥

अर्थ – विज्ञान (ज्ञान) का एक ही स्वरूप है और वह घटादि के विचित्र आकार से युक्त है, इस तरह इच्छा करते हुए प्राज्ञ ऐसे बौद्ध अनेकान्त–स्याद्वाद का उत्थापन नहीं कर सकते हैं। अर्थात्–एक स्वरूप वाले ज्ञान को विचित्र आकारवाला मानने से अनेकान्त मत मान्य ही किया ऐसा कहा जाता है। फिर भी उसको नहीं स्वीकार करनेवाला बौद्ध वास्तव में प्राज्ञ [प्र x अज्ञ–बड़ा अज्ञानी] है। (८)

चित्रमेकमनेकं च, रूपं प्रामाणिकं वदन् ।
योगो वैशेषिको वापि, नाऽनेकान्तं प्रतिक्षिपेत् ॥९॥

अर्थ – एक ही रूप (घटादि) अनेक रूप (आकार) वाला है, वह प्रमाण सिद्ध है। इस तरह बोलनेवाले ऐसे नैयायिक और वैशेषिक मत वाले भी अनेकान्त–स्याद्वादमत का उत्थापन नहीं कर सकते हैं। (९)

इच्छन्प्रधानं सत्त्वाद्यै–र्विरुद्धैर्गुम्फितं गुणैः ।
सांख्यः संख्यावतां मुख्यो, नाऽनेकान्तं प्रतिक्षिपेत् ॥१०॥

अर्थ – विद्वानों में मुख्य ऐसे साङ्ख्यमत सत्त्वादि विरुद्ध गुण से युक्त प्रधान अर्थात् प्रकृति को इच्छा करते हैं, अर्थात् सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण यह त्रिगुणात्मकं प्रकृति है, इस तरह मानते हैं। वे तीनों गुण परस्पर विरुद्ध हैं। उसको एक ही

वस्तु (प्रकृति) में मानते हैं। इसलिये वह अनेकान्त स्याद्वाद मत को उत्थापन नहीं कर सकते। (१०)

विमतिः सम्मतिर्वापि, चार्वाकस्य न मृग्यते ।
परलोकात्ममोक्षेषु, यस्य मुह्यति शेमुषी ॥११॥

अर्थ - [हे प्रभो !] परलोक, जीव और मोक्ष में भी जिसकी मति भ्रमित है। वैसे चार्वाक (नास्तिक) की इसमें विमति है, या संमति है यह कोई विचार करने की आवश्यकता नहीं, कारण कि आबालगोपाल पर्यन्त सभी परलोकादि को मानते हैं। उसको ही जो नहीं मानते ऐसे चार्वाक (नास्तिक) की विमति या संमति से क्या फल ?। (११)

तेनोत्पादव्ययस्थेम-सम्भिन्नं गोरसादिवत् ।
त्वदुपज्ञं कृतधियः, प्रपन्ना वस्तु वस्तुसत् ॥१२॥

अर्थ - अतः हे वीतराग ! कुशल बुद्धि वाले (ज्ञानी) पुरुषों ने गोरसादि की जिस प्रकार उत्पात, व्यय और ध्रौव्य-स्वरूपवाली सत् वस्तु की जो स्वयं सर्वप्रथम प्ररूपी है उसीको स्वीकार किया है अर्थात् उत्पत्ति-विनाश-स्थिति से युक्त पारमार्थिक वस्तु को स्वीकार किया है। जिस तरह गोरस (दूध) दूध के स्वरूप को नाश कर दही के उत्पन्न हुआ वह भी गोरस ही कहा जाता है। अर्थात्-दूध रूप द्रव्य का दही रूप पर्याय हुआ। उसी तरह मृत्तिकादि ही के स्वरूप में द्रव्य का घटादि पर्याय है तथा जीव द्रव्य का मनुष्यादि पर्याय है। इत्यादि ऐसा ही समझना चाहिये। (१२)

नवम प्रकाशः

यत्राल्पेनापि कालेन, त्वद्भक्तेः फलमाप्यते ।
कलिकालः स एकोऽस्तु, कृतं कृतयुगादिभिः ॥१॥

अर्थ – इस प्रकार एकान्तमत को निरस्त करके इस कलिकाल की उत्तमता दिखाते हुए वीतराग प्रभु का धर्मचक्रवर्त्तित्व बताते हैं ।

इस कलिकाल में अल्पकाल द्वारा भी अपके भक्त आपकी भक्ति के फल को प्राप्त करते हैं । वह कलिकाल ही एक हो । कृतयुगादि युगों से चल रहा है । उसका कोई काम नहीं । कहा गया है कि –

कृतयुग में हजार वर्ष पर्यन्त की हुई भक्ति का जो फल प्राप्त होता है । वह फल त्रेतायुग में एक वर्ष द्वारा, द्वापरयुग में एक मास द्वारा और सतयुग में एक अहोरात्र द्वारा प्राप्त होता है । (१)

सुषमातो दुःषमायां, कृपा फलवती तव ।
मेरुतो मरुभूमौ हि, श्लाध्या कल्पतरोः स्थितिः ॥२॥

अर्थ – हे प्रभु ! सुषमा काल की अपेक्षा दुःषमा काल में आपकी कृपा (हो जाए तो वह) फलवती, उत्तम फल को देनेवाली है। जिस तरह मेरुपर्वत की अपेक्षा मरुधर (मारवाड़) की भूमि में कल्पवृक्ष की स्थिति प्रशंसा पात्र है। (२)

श्राद्धः श्रोता सुधीर्वक्ता, युज्येयातां यदीश ! तत् ।
त्वच्छासनस्य साम्राज्यमेकच्छत्रं कलावपि ॥३॥

अर्थ – [हे प्रभु !] श्रद्धावान श्रोता और सुधी (आपके आगम रहस्य को जानने वाले वक्ता) इन दोनों का यदि समागम हो जाय तो ऐसे कलियुग में भी आपके शासन का एकछत्रवाला ही साम्राज्य है। (३)

युगान्तरेऽपि चेन्नाथ !, भवन्त्युच्छृङ्खलाः खलाः ।
वृथैव तर्हि कुप्यामः, कलये वामकेलये ॥४॥

अर्थ – हे नाथ ! यदि कृतयुग आदि अन्य युग में भी मंखलिपुत्र जैसे उद्धत खलपुरुष होते हैं, तो फिर अयोग्य चरित्रवाले कलियुग के ऊपर हम वृथा ही कोप करते हैं। (४)

कल्याणसिद्धयै साधीयान्, कलिरेव कषोपलः ।
विनाग्निं गन्धमहिमा, काकतुण्डस्य नैधते ॥५॥

अर्थ – कल्याण की सिद्धि के लिये कसौटी के पत्थर जैसे कलियुग ही विशेष रूप से उत्तम है। क्योंकि अग्नि के बिना अगर के गन्ध की महिमा वृद्धि नहीं पाता। (५)

निशि दीपोऽम्बुधौ द्वीपं, मरौ शाखी हिमे शिखी ।
कलौ दुरापः प्राप्तोऽयं, त्वत्पादाब्जरजः कणः ॥६॥

अर्थ – [हे प्रभु !] कलियुग में दुःखपूर्वक प्राप्त की जा सके ऐसे ये आपके चरणकमल के रज के कण रात्रि में

दीपक के समान, समुद्र में द्वीप के समान, मरुधर–मारवाड़ में वृक्ष के समान तथा शीतकाल में अग्नि के समान हमें प्राप्त हुए हैं। (६)

युगान्तरेषु भ्रान्तोऽस्मि, त्वद्दर्शनविनाकृतः।
नमोऽस्तु कलये यत्र, त्वद् दर्शनमजायत ॥७॥

अर्थ – [हे प्रभु !] अन्य युगों में मैं आपके दर्शन के बिना इस संसाररूपी अरण्य में भटक रहा था उससे इस कलियुग को ही नमस्कार हो, जिसमें आपके दर्शन हुए। (७)

बहुदोषो दोषहीनात्, त्वतः कलिरशोभत।
विषयुक्तो विषहरात्, फणीन्द्र इव रत्नतः ॥८॥

अर्थ – [हे प्रभु !] जिस तरह विष को हरण करने वाले मणि के द्वारा विषयुक्त सर्प शोभित होता है। उसी तरह अठारह दोषरहित आपके द्वारा अनेक दोषों वाला कलियुग शोभित होता है। (८)

• • •

दशम प्रकाशः

मत्प्रसत्तेस्त्वत्प्रसादस्त्वत्प्रसादादियं पुनः ।
इत्यन्योन्याश्रयंभिन्धि, प्रसीद भगवन् ! मयि ॥१॥

अर्थ – हे भगवन् ! मेरे मन की प्रसन्नता से आपकी प्रसन्नता (कृपा) मेरे ऊपर होती है । और आपके प्रसाद से मेरे मन की प्रसन्नता (निर्मलता) होती है इस तरह उत्पन्न होते हुए अन्योन्याश्रय दोष को आप नाश करें और मेरे ऊपर आप प्रसन्न रहों । (१)

निरीक्षितुं रूपलक्ष्मीं, सहस्त्राक्षोऽपि न क्षमः ।
स्वामिन् ! सहस्त्रजिह्वोऽपि, शक्तो वक्तुं न ते गुणान् ॥२॥

अर्थ – हे स्वामिन् ! आपकी रूपलक्ष्मी अर्थात् रूपशोभा को यथार्थ रूप से देखने के लिये एक हजार नेत्रोंवाला इन्द्र भी समर्थ नहीं है, और आपके गुण गाने के लिये एक हजार जिह्वावाला शेषनाग भी समर्थ नहीं है । (२)

संशयान् नाथ ! हरसेऽनुत्तरस्वर्गिणामपि ।
अतः परोऽपि किं कोऽपि, गुणः स्तुत्योऽस्ति वस्तुतः ? ॥३॥

अर्थ – हे नाथ ! आप यहाँ रहते हुए ही अनुत्तर विमान में रहनेवाले देवों के भी संशयों को हरते हो अर्थात् दूर करते हो, तो क्या इससे अन्य वस्तुतः (परमार्थ से) स्तुति करने योग्य कोई भी गुण है ? अर्थात् नहीं है । (३)

इदं विरुद्धं श्रद्धत्तां, कथमश्रद्धानकः ? ।
आनन्दसुखसक्तिश्च, विरक्तिश्च समं त्वयि ॥४॥

अर्थ - [हे नाथ !] अनन्त आनन्दरूप सुख में आसक्ति और समस्त संग की विरक्ति, ये दोनों एक साथ आप में है । ऐसी विरुद्ध बातें श्रद्धा रहित पुरुष [आपके लोकोत्तर चरित्र को नहीं जानने वाले] किस तरह श्रद्धा करें ? अर्थात् किस तरह मानें ? । (४)

नाथेयं घटयमानापि, दुर्घटा घटतां कथम् ? ।
उपेक्षा सर्वसत्त्वेषु, परमा चोपकारिता ॥५॥

अर्थ - हे नाथ ! आपकी समस्त प्राणिओं के प्रति उपेक्षा (अर्थात्-मध्यस्थता, रागद्वेष रहितता) और ज्ञानादि मोक्षमार्ग दिखलाने के द्वारा महा-उपकारीता ये दोनों बातें आपके अन्दर प्रत्यक्ष दिखाई देने से घटमान होते हुए भी अन्यत्र अघटमान होने से किस तरह घट सकती है । ? (५)

द्वयं विरुद्धं भगवंस्तव नान्यस्य कस्यचित् ।
निर्ग्रन्थता परा या च, या चोच्चैश्चक्रवर्त्तिता ॥६॥

अर्थ - हे भगवन् ! जो उत्कृष्ट निर्गन्थिता और जो उत्कृष्ट चक्रवर्त्तित्व ये दोनों विरुद्ध बातें जो अन्य किसी हरिहरादि में नहीं है, वे आपते अन्दर स्वाभाविक रूप से विद्यामन है । (६)

नारका अपि मोदन्ते, यस्य कल्याणपर्वसु ।
पवित्रं तस्य चारित्रं, को वा वर्णयितुं क्षमः ? ॥७॥

अर्थ – जिनके पाँचों कल्याणक तिथियों में नारकी जीव भी एक मुहूर्त्त मात्र के लिए आनन्द प्राप्त करते हैं । ऐसा आपके पवित्र चरित्र का वर्णन करने में कौन समर्थ है ? । (७)

शमोद्ऽभुतोऽद्भुतं रूपं, सर्वात्मसु कृपाद्भुता ।
सर्वाद्भुतनिधीशाय, तुभ्यं भगवते नमः ॥८॥

अर्थ – [हे वीतराग देव !] आपके अन्दर अद्भुत समता, अद्भुत रूप और समस्त प्राणियों के ऊपर अद्भुत दया है । उससे सर्व अद्भुत के महानिधानरूप आप भगवान को [हमारा] नमस्कार हो । (८)

• • •

एकादश प्रकाशः

निघ्नन्परीषहचमू-मुपसर्गान् प्रतिक्षिपन् ।
प्राप्तोऽसि शमसौहित्यं, महतां कापि वैदुषी ॥१॥

अर्थ - [हे वीतराग विभो !] आप परीषहों की सेना (श्रेणि) को विनाश करते हुए और उपसर्गों को दूर फेंकते हुए, समतारूप अमृत की तृप्ति को प्राप्त कर चुके हैं, उससे महापुरुषों की चतुराई अद्भुत ही होती है। (१)

अरक्तो भुक्तवान् मुक्ति-मद्विष्टोहतवान्द्विषः ।
अहो ! महात्मनां कोऽपि, महिमा लोकदुर्लभः ? ॥२॥

अर्थ - [हे वीतराग देव !] आपने रागरहित होते हुए मुक्तिरूपी नारी का संगम किया है और द्वेषरहित होते हुए कषायादि शत्रुओं का विनाश किया है । अहो ! लोक में दुर्लभ ऐसे महात्माओं की महिमा अद्भुत ही है। (२)

सर्वथा निर्जिगीषेण, भीतभीतेन चागसः ।
त्वया जगत्त्रयं जिग्ये, महतां काऽपि चातुरी ॥३॥

अर्थ - [हे प्रभु !] समस्त प्रकार से शत्रु को जीतने की इच्छा से रहित और पाप से अत्यन्त भय पाये हुए भी आपने (स्वर्ग-मृत्यु-पाताल) तीनों जगत को जीत लिया है, ऐसे महापुरुषों की चतुराई अद्भुत ही है। (३)

दत्तं न किञ्चित् कस्मैचिन्नात्तं किञ्चित्कुतश्चन ।
प्रभुत्वं ते तथाप्येतत्कला कापि विपश्चिताम् ॥४॥

अर्थ - [हे प्रभो !] आप ने किसी को कोई प्रामादि नहीं दिया तथा किसी के पास से कोई दण्डादि नहीं लिया।

फिर भी आपका यह (समवसरणादि लक्ष्मीरूप) ऐश्वर्य है, अतः विद्वानों की कला अपूर्व है । (४)

यद् देहस्यापि दानेन, सुकृतं नार्जितं परैः ।
उदासीनस्य तन्नाथ ?, पादपीठे तवालुठत् ॥५॥

अर्थ – [हे नाथ !] अन्य बौद्धादि अपने देह को आपके द्वारा भी जो सुकृत उपार्जन नहीं किया वह (उपकार रूप सुकृत) उदासीन भाव से आपके पादपीठ में आकर लोटता है। (५)

रागादिषु नृशंसेन, सर्वात्मसु कृपालुना ।
भीमकान्तगुणेनोच्चैः, साम्राज्यं साधितं त्वया ॥६॥

अर्थ – [हे विश्वेश !] रागादि के ऊपर दया रहित और सर्व प्राणियों पर दयावाने ऐसे आपने प्रतापादि भयंकर और समतादि मनोहर गुणों के द्वारा महासाम्राज्य प्राप्त कर लिया है। (६)

सर्वे सर्वात्मनाऽन्येषु, दोषास्त्वयि पुनर्गुणाः ।
स्तुतिस्तवेयं चेन्मिथ्या, तत्प्रमाणं सभासदः ॥७॥

अर्थ – [हे स्वामिन् !] हरिहरादि अन्य देवो में सर्व दोष सर्व प्रकार से विद्यमान हैं, और अपके अन्दर सर्वथा सर्व गुण विद्यमान हैं । यह आपकी स्तुति यदि मिथ्या हो तो उपस्थित सभासद प्रमाणभूत हैं। वे जो कहें वही सच्चा है। (७)

महीयसामपि महान्, महनीयो महात्मनाम् ।
अहो ! मे स्तुवतः स्वामी, स्तुतेर्गोचरमागमत् ॥८॥

अर्थ – महान में महान और महात्माओं के भी पूज्य ऐसे स्वामी ! आज स्तुति करते हुए ऐसी मेरी स्तुति के विषय को प्राप्त किए हो । (८)

द्वादश प्रकाशः

पट्वभ्यासादरैः पूर्वं, तथा वैराग्यमाहरः ।
यथेह जन्मन्याजन्म, तत् सात्मीभावमागमत् ॥१॥

अर्थ - हे वीतराग देव ! आपने पर्व भव में उत्तम अभ्यास के आदर से ऐसा वैराग्य प्राप्त किया था, जिससे इस [तीर्थंकर के] भव में वह वैराग्य जन्म से ही सहज भाव से प्राप्त किया है अर्थात् जन्म से ही आपकी आत्मा वैराग्य से रंगी हुई है। (१)

दुःखहेतुषु वैराग्यं, न तथा नाथ ! निस्तुषम् ।
मोक्षोपायप्रवीणस्य, यथा ते सुखहेतुषु ॥२॥

अर्थ - हे नाथ ! मोक्ष के (सम्यग्ज्ञानादि) उपाय में प्रवीण ऐसे आपके सुख के हेतु में जैसा निर्मल वैराग्य होता है, वैसा दुःख के हेतु में नहीं होता। अर्थात्-जो दुःखहेतुक वैराग्य होता है वह क्षणिक है और सुखहेतुक वैराग्य होता है वह निश्चल होने से मोक्ष का साधन अवश्य होता है। (२)

विवेकशाणैर्वैराग्यशास्त्रं शातं त्वया तथा ।
यथा मोक्षेऽपि तत्साक्षा-दकुण्ठितपराक्रमम् ॥३॥

अर्थ - [हे वैराग्यनिधि !] विवेकरूपी शाण के ऊपर वैराग्यरूपी शस्त्र को आपने उसी तरह घिसकर तीक्ष्ण किया है, जिससे मोक्ष में भी उस (वैराग्यरूपी शस्त्र) का पराक्रम

अंश मात्र भी प्रभावित नहीं हुआ। [अर्थात् अप्रतिहत रहा है] (३)

यदा मरुन्नरेन्द्रश्रीस्त्वया नाथोपभुज्यते ।
यत्र तत्र रतिर्नाम, विरक्तत्वं तदापि ते ॥४॥

अर्थ – हे नाथ ! जब आप पूर्वभव में देव की ऋद्धि की और उसके पश्चात् तीर्थङ्कर के भव में राजलक्ष्मी को भोगते हैं तब भी आपका वैराग्य ही है, कारण कि जहाँ तहाँ भी तुम्हारी रति [समाधि] ही है। अर्थात्–देव और राज्य की लक्ष्मी भोगते हुए भी आप भोग्य फलवाला कर्म भोगे बिना क्षय नहीं होगा इस तरह विचार करके अनासक्त भाव से भोगते हैं, उससे कर्म की निर्जरा ही होती है। (४)

नित्यं विरक्तः कामेभ्यो, यदा योगं प्रपद्यसे ।
अलमेभिरिति प्राज्यं, तदा वैराग्यमस्ति ते ॥५॥

अर्थ – [हे वीतराग मूर्त्ति !] सर्वदा अर्थात् दीक्षा ग्रहण के पूर्व भी विषयों से विरक्त होते हुए आप जब योग [दर्शन–ज्ञान–चारित्र रूप दीक्षा] को स्वीकार करते हैं, तब इन विषयों से मुक्त हुआ ऐसा विचार करते हुए आपको महावैराग्य ही हुआ। (५)

सुखे दुःखे भवे मोक्षे, यदौदासीन्यमीशिषे ।
तदा वैराग्यमेवेति, कुत्र नासि विरागवान् ? ॥६॥

अर्थ – सुख में, दुःख में, संसार में और मोक्ष में सर्वत्र

आप जब उदासीन रहते हैं, तब भी आपको वैराग्य ही है, उससे आप कहाँ और कब वैराग्यवाले नहीं हैं ? अर्थात् सर्वत्र वैराग्यवन्त ही हैं । (६)

दुःखगर्भे मोहगर्भे, वैराग्ये निष्ठिताः परे ।
ज्ञानगर्भं तु वैराग्यं, त्वय्येकायनतां गतम् ॥७॥

अर्थ - अन्य (परतीर्थिक) दुःखगर्भित और मोहगर्भित वैराग्य में स्थित हैं, किन्तु ज्ञानगर्भित वैराग्य तो आपमें एकीभाव को (तन्मयता को) पाया है ।

[-इष्ट के वियोग से और अनिष्ट के संयोग से होनेवाला वैराग्य '**दुःखगर्भित वैराग्य**' कहा जाता है ।

२-कुशास्त्र में वर्णित, अध्यात्म के अंश के श्रवण करने से जो वैराग्य होता है वह '**मोहगर्भित वैराग्य**' कहा जाता है ।

३-यथास्थित संसार का स्वरूप देखकर जो वैराग्य उत्पन्न होता है वह 'ज्ञानगर्भित वैराग्य' कहा जाता है ।] (७)

औदासीन्येऽपि सततं, विश्वविश्वोपकारिणे ।
नमो वैराग्यनिघ्नाय, तायिने परमात्मने ॥८॥

अर्थ - [हे वीतराग देव !] उदासीनता (मध्यस्थता) में भी निरन्तर समस्त विश्व को उपकार करने वाले, वैराग्य में तत्पर, सबके रक्षक और परमात्मस्वरूप अर्थात्-परब्रह्मस्वरूप ऐसे आपको हमारा नमस्कार हो । (८)

त्रयोदश प्रकाशः

अनाहूतसहायस्त्वं, त्वमकारणवत्सलः ।
अनभ्यर्थितसाधुस्त्वं, त्वमसम्बन्धबान्धवः ॥१॥

अर्थ – [हे वीतराग देव !] मुक्तिपुरी के मार्ग में जाने वाले प्राणियों को आप बिना बोले ही सहायकारक हो, आपकारण बिना ही हितकारक हो, आप प्रार्थना किये बिना ही साधु अर्थात् पर का कार्य करने वाले हो, तथा आप सम्बन्ध बिना ही बान्धव हो । (१)

अनक्तस्निग्धमनस–ममृजोज्ज्वलवाक्पथम् ।
अधौतामलशीलं त्वां, शरण्यं शरणं श्रये ॥२॥

अर्थ – ममतारूपी स्नेह द्वारा स्निग्ध नहीं होते हुए भी स्निग्ध मन वाले, मार्जन किये बिना ही उज्ज्वल वाणी को बोलने वाले, धोये बिना ही निर्मल शीलवाले और वैसा करके ही शरण करने लायक ऐसे आपकी मैं शरण में रहता हूँ। (२)

अचण्डवीरवृत्तिना, शमिना शमवर्त्तिना ।
त्वया काममकुट्यन्त, कुटिलाः कर्मकण्टकाः ॥३॥

अर्थ – क्रोध बिना ही वीरव्रतवाले, संमतावाले और समता में व्यवहार करनेवाले ऐसे आपने कुटिल कर्मरूपी कण्टकों का विनाश किया है । (३)

अभवाय महेशायाऽगदाय नरकच्छिदे ।
अराजसाय ब्रह्मणे, कस्मैचिद् भवते नमः ॥४॥

अर्थ – भव (महादेव) रहित महेश्वरूप, गदा रहित नरकच्छिद् (विष्णु) रूप और रजोगुण रहित ब्रह्मारूप ऐसे (कोई न कह सके वैसे) आपको नमस्कार हो ।

[इस श्लोक में कहे हुए छहों शब्द परस्पर विरोधी हैं। इस विरोध को दूर करने के लिए निम्नलिखित अर्थ इस तरह हैं –

''वीतराग परमात्मा 'अभव' अर्थात् संसार रहित हैं । 'महेश' अर्थात् तीर्थङ्कर सम्बन्धी परम ऐश्वर्य सहित हैं, 'अगद' अर्थात् रोग रहित हैं, 'नरकच्छिद' अर्थात् धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति करने से भव्य प्राणियों की नरकगति को छेदने वाले, 'अराजस' अर्थात् कर्मरूपी रजरहित और 'ब्रह्मा' अर्थात् परब्रह्म (मोक्ष) में लय प्राप्त होने से ब्रह्मरूप हैं। ऐसे आपको नमस्कार हो ।'' (४)

अनुक्षितफलोदग्रादनिपातगरीयसः ।
असङ्कल्पितकल्पद्रोरत्वत्तः फलमवाप्नुयाम् ।।५।।

अर्थ – (सर्व वृक्ष निरन्तर जलसिंचन करने से अमुक समय पर ही मात्र फल को देते हैं । और पत्रों के द्वारा ही महा भारवाले होते हैं। तथा प्रार्थना करने से ही इच्छित वस्तु को देने वाले होते हैं । किन्तु) आप तो सिंचन किये बिना ही उभयलोक के सुख रूपी फलों द्वारा परिपूर्ण हैं, पतन के बिना ही अर्थात् स्व स्वरूप में रहने से ही गौरव वाले हैं ।

तथा प्रार्थना किये बिना ही इच्छित वस्तु को देने वाले हैं। अतः इस प्रकार के कल्पवृक्षरूप आपसे मैं फल को प्राप्त करता हूँ। (५)

असङ्गस्य जनेशस्य, निर्ममस्य कृपात्मनः ।
मध्यस्थस्य जगत्त्रातुरनङ्कस्तेऽस्मि किङ्करः ॥६॥

अर्थ – (इस श्लोक में भी परस्पर विरुद्ध ऐसे छः विशेषण इस प्रकार हैं –)

जो संगरहित हैं वे जनेश अर्थात् लोक के स्वामी नहीं हो सकते, जो ममतारहित हैं वे किसी पर कृपा नहीं कर सकते और जो मध्यस्थ-उदासीन हैं, वे दूसरे की रक्षा नहीं कर सकते, तो भी) आप तो सर्व संग का त्याग कर तीर्थङ्कर पद के प्रभाव से इच्छा रहित होते हुए भी तीन लोकों को सेव्य होने से 'जनेश' हैं तथा वीतरागता से ही ममता रहित होते हुए भी दुष्कर्म से पीड़ा प्राप्त करते हुए तीन जगत के प्राणियों पर कृपालु हैं तथा राग-द्वेष रहितता के लिए मध्यस्थ अर्थात् उदासीन होते हुए भी एकान्त हितकारक धर्मोपदेश देने से अभ्यन्तर शत्रु से त्रास पाते हुए जगत के जीवों के रक्षक हैं, ऐसे विशेषण वाले आपका मैं अंक (चिह्न) रहित किंकर हूं। जो किंकर है वह खड्गादि चिह्न वाला होता है, लेकिन मैं तो द्विपदादि परिग्रह रहित ऐसा आपका कदाग्रह रूपी कलङ्क रहित सेवक हूँ। (६)

अगोपिते रत्ननिधाववृते, कल्पपादपे ।
अचिन्त्ये चिन्तारत्ने च, त्वय्यात्माऽयं मयार्पितः ॥७॥

अर्थ – (इस श्लोक में भी छः शब्द परस्पर विरुद्ध इस तरह हैं – रत्न की निधि छुपाए बिना नहीं रह सकती, कल्पवृक्ष वाड़ बिना नहीं रह सकता और चिन्तामणि रत्न प्रार्थना बिना कुछ भी नहीं दे सकता परन्तु) आप तो गुप्त किये बिना प्रगट रत्न के सिद्धि के समान, कर्मरूपी वाड़ के बिना के कल्पवृक्ष के समान और अचिन्त्य चिन्तामणि रत्न के समान ऐसे आपमें मैंने अपनी आत्मा को अर्पण किया है । (७)

फलानुध्यानवन्ध्योऽहं, फलमात्रतनुर्भवान् ।
प्रसीद यत्कृत्यविधौ, किङ्कर्तव्यजडे मयि ॥८॥

अर्थ – आप सिद्धत्व रूप फल मात्र शरीर वाले हैं और मैं फलरूप आपके ध्यान रहित हूँ, उससे मुझे क्या करना ? इस विषय में जड़-मूढ़ बने हुए मेरे ऊपर जो मेरे करने योग्य है वह विधि दिखाने की कृपा करें । (८)

• • •

चतुर्दश प्रकाशः

मनोवचःकायचेष्टाः, कष्टाः संहृत्य सर्वथा ।
श्लथत्वेनैव भवता, मनःशल्यं वियोजितम् ॥१॥

अर्थ – [हे योगीश्वर !] कष्टकारक अर्थात् पापवाली ऐसी मन, वचन और काया की चेष्टा को सर्वथा त्याग कर शिथिलता द्वारा ही आपने मन के शल्य को दूर किया है।

(देह में किसी स्थान पर शल्य (कण्टक) लगा हो तो बाह्य चेष्टा का निरोध करके शरीर को शिथिल करने से तत्काल ही वह शल्य चिमटा आदि साधन से निकल सकता है । उसी तरह सभी चेष्टाओं को रोक कर मन को शिथिल करने से वह मन स्वयं ही शान्त हो जाता है। कारण कि विपरीत शिक्षावाले अश्व की भांति मन को नियंत्रित करने से वह और अधिक फैलता है । अर्थात् विशेष चपल होता है, और शिथिल करने से स्वयं ही स्थिर हो जाता है।) (१)

संयतानि न चाक्षाणि, नैवोच्छृङ्खलितानि च ।
इति सम्यक् प्रतिपदा, त्वयेन्द्रियजयः कृतः ॥२॥

अर्थ – [हे योगीनाथ !] आपने इन्द्रियों के बलात्कार नियन्त्रित से नहीं किया, उसी प्रकार लोलुपता से आजादी भी नहीं दी। इस तरह सम्यक् प्रकार से वस्तुतत्त्व को स्वीकार करने वाले अपने इन्द्रियों का जय किया है ।

(इन्द्रियों को बलात्कार से बांधने पर वह कौतुक वाली हो कर बन्धन में नहीं रहती, तथा कुछ देर बाद उसको स्वतन्त्र कर दिया जाए तो विषय के स्वरूप को जानकर, अनुभवी, कौतुकरहित होकर स्वयं ही निवृत्ति प्राप्त करती है, और फिर से वह कभी भी विकार नहीं प्राप्त करती।

यह कथन ज्ञानी महात्मा के लिये है, अन्य जनों के लिये तो इन्द्रियों को जय करने के लिये सर्वथा शक्ति लगा देनी चाहिए। (२)

योगस्याऽष्टाङ्गता नूनं, प्रपञ्चः कथमन्यथा ?।
आबालभावतोऽप्येष, तव सात्म्यमुपेयिवान् ॥३॥

अर्थ – [हे योगीश !] अन्य शास्त्रो में (१) यम, (२) नियम, (३) आसन, (४) प्राणायाम, (५) प्रत्याहार, (६) धारणा, (७) ध्यान, और (८) समाधि ये आठों अंग योग (समाधि) के कहे गये हैं। वे मात्र प्रपञ्च (आडम्बर विस्तार) है इस प्रकार प्रतीत होता है, कारण कि–यदि ऐता न हो तो हम बाल्यावस्था से ही इस योग सहजता को किस तरह प्राप्त कर सकते हैं ?

(आसनादिक बाह्यविस्तार के बिना ही परम ज्ञान–वैराग्यादिरूप योग आपको स्वाभाविक ही प्राप्त हुआ है। (३)

विषयेषु विरागस्ते, चिरं सहचरेष्वपि ।
योगे सात्म्यमदृष्टेऽपि, स्वामिन्निदमलौकिकम् ॥४॥

अर्थ – हे स्वामिन् ! बहुतकाल के परिचयवाले विषयों पर आपका वैराग्य है और जन्मपर्यन्त नहीं देखे हुए ऐसे भी योग में एकरूपता-तन्मयता है । यह आपका चरित्र अलौकिक है । (४)

तथा परे न रज्यन्त, उपकारपरे परे ।
यथाऽपकारिणी भवानहो ! सर्वमलौकिकम् ॥५॥

अर्थ – [हे वीतराग !] अपकार करने वाले कमठ, गौशालक आदि पर भी आप जिस तरह रागी (खुशी) होते हैं, उसी तरह अन्य देव उपकार करनेवाले सेवक पर भी रागी (खुशी) नहीं होते ।

अहो ! आपका सर्व चरित्र अलौकिक है । [कर्म का क्षय करने में प्रवर्त्तित मन कमठ ठीक सहायभूत हुआ है । इस तरह विचारकर आप उसके ऊपर खुशी होते हैं] । (५)

हिंसका अप्युपकृता, आश्रिता अप्युपेक्षिताः ।
इदं चित्रं चरित्रं ते, के वा पर्यनुयुञ्जताम् ? ॥६॥

अर्थ – हे प्रभु ! आपने चण्डकौशिक प्रमुख हिंसकों को भी सद्गति प्राप्त कराते हुए उपकार किया है और सर्वानुभूति तथा सुनक्षत्र आदि आश्रितों की भी आपने उपेक्षा की है अर्थात् इस भव सम्बन्धी आपत्ति से उनका रक्षण नहीं किया । ऐसा आश्चर्यकारक आपके चारित्र के विषय में पूछने के लिये भी कौन उत्साह को धारण कर

सकता है ? आप ऐसा चरित्र क्यों कर रहे हैं ? इस तरह आपको कोई भी नहीं पूछ सकता है । (६)

तथा समाधौ परमे, त्वयात्मा विनिवेशितः ।
सुखी दुःख्यस्मि नास्मीति, यथा न प्रतिपन्नवान् ।।७।।

अर्थ - [हे भगवन् !] आपने आपनी आत्मा को इस तरह उत्तम समाधि में स्थापित किया है कि जिसे मैं सुखी हूँ ? कि दुःखी हूँ ? कि नहीं हूँ ? इस तरह जरा भी आपने नहीं स्वीकारा । अर्थात् आप संकल्परहित हैं । (७)

ध्याता ध्येयं तथा ध्यानं, त्रयमेकात्मतां गतम् ।
इति ते योगमाहात्म्यं, कथं श्रद्धीयतां परैः ? ।।८।।

अर्थ - हे स्वामिन् ! ध्याता, ध्येय और ध्यान ये तीन आप में एकत्व को (अभेद को) पाये हैं । ऐसे आपके योग महात्म्य को अन्य जन (सूक्ष्ममार्ग को नहीं जानने वाले लोग) किस तरह श्रद्धा करें ? अर्थात् किस तरह मानें । (८)

• • •

पञ्चदश प्रकाशः

जगज्जैत्रा गुणास्त्रातरन्ये तावत् तवासताम् ।
उदात्तशान्तया जिग्ये, मुद्रयैव जगत्त्रयी ॥१॥

अर्थ – [हे विश्वविभु !] प्रथम तो विश्व को जीतनेवाले अन्य आपके गुण दूर रहें, किन्तु उदात्त (पराभव न प्राप्त कर सके ऐसी) और शान्त (सौम्य) ऐसी आपकी मुद्राओं ने ही तीन जगत को जीत लिया है । (१)

मेरुस्तृणीकृतो मोहात्–पयोधिर्गोष्पदीकृतः ।
गरिष्ठेभ्यो गरिष्ठो यैः, पाप्मभिस्त्वमपोषितः ॥२॥

अर्थ – हे नाथ ! जिन पापियों ने महान् से भी महान् अर्थात् इन्द्रादि से भी महान् ऐसे आपका अनादर किया है, उन्होंने अज्ञान से मेरुपर्वत को तृण समान माना है, और समुद्र को गोष्पद याने गाय की खुरी जैसा माना है । (२)

च्युतश्चिन्तामणिः पाणे स्तेषां लब्धा सुधा मुधा ।
यैस्ते शासनसर्वस्वमज्ञानैर्नात्मसात्कृतम् ॥३॥

अर्थ – जिन अज्ञानियों ने आपका शासनरूपी सर्वस्व (धन) अपने आधीन नहीं किया है । उनके हाथ से मानो चिन्तामणि रत्न गिर गया है और मिला हुआ अमृत निष्फल हो गया है । (३)

यस्त्वय्यपि दधौ दृष्टिमुल्मुकाकारधारिणीम् ।
तमाशुशुक्षणिः साक्षादालप्यालमिदं हि वा ॥४॥

अर्थ – हे प्रभु ! जो मनुष्य अकारण वत्सल ऐसे आपके ऊपर भी जलते हुए अंगारों की तरह इर्ष्यावाली दृष्टि को धारण करते हैं, उन्हें साक्षात् अग्नि या तो ऐसा वचन बोलने से अच्छा (अर्थात् न बोलना ही अच्छा है) । (४)

त्वच्छासनस्य साम्यं ये, मन्यन्ते शासनान्तरैः ।
विषेण तुल्यं पीयूषं, तेषां हन्त ! हतात्मनाम् ॥५॥

अर्थ – [हे स्वामिन् !] खेद की बात यह है कि जो लोग आपके शासन को अन्य दर्शनों के साथ समान मानते हैं। ऐसे अज्ञान से आहत जनों को अमृत भी विष तुल्य है। (अर्थात्–वे लोग अमृत को विष समान मानते हैं ऐसा समझना चाहिए । (५)

अनेडमूका भूयासुस्ते येषां त्वयि मत्सरः ।
शुभोदकार्य वैकल्यमपि पापेषु कर्मसु ॥६॥

अर्थ – [हे प्रभो !] जिन्होंने आपके ऊपर इर्ष्या की है, वे लोग बहरे और गूंगे ही हैं, कारण कि–परनिन्दादि पाप व्यापार में इन्द्रियों की विकलता (रहितता) भी शुभ परिणाम के लिये ही है । अर्थात्–इन्द्रियों की विकलता से आपकी निंदादि न कर सकने से वे दुर्गति में नहीं जायेंगे, यही उनके लिये महालाभ है । (६)

तेभ्यो नमोऽञ्जलिरयं, तेषां तान् समुपास्महे ।
त्वच्छासनामृतरसैर्यैरात्माऽसिच्यतान्वहम् ॥७॥

अर्थ – जिन्होंने आपके शासनरूपी अमृत रस द्वारा निरंतर अपनी आत्मा को सिंचन किया है। उन्हीं को हमारा नमस्कार हो, हम दोनों हाथ जोड़ते हैं और हम आपकी सेवा करते हैं। (७)

भुवे तस्यै नमो यस्यां, तव पादनखांशवः ।
चिरं चूडामणीयन्ते, ब्रूमहे किमतः परम् ? ॥८॥

अर्थ – [हे प्रभो !] जिस भूमि पर आपके चरण–पाद के नख की किरणें चिरकाल पर्यन्त चूडामणि की तरह शोभती हैं, उस भूमि को नमस्कार हो। इससे अधिक हम क्या कहें ? इससे अधिक भक्ति का वचन हमारे पास नहीं है। (८)

जन्मवानस्मि धन्योऽस्मि, कृतकृत्योऽस्मि यन्मुहुः ।
जातोऽस्मि त्वद्गुणग्रामरामणीयकलम्पटः ॥९॥

अर्थ – [हे वीतराग प्रभो !] आपके गुण समूहरूपी रमणीकता में मैं वारंबार लंपट याने मग्न हुआ हूँ, उससे मेरा जन्म सफल है, मुझे धन्य है और मैं कृतकृत्य अर्थात् कृतार्थ बना हूँ। (९)

• • •

षोडशः प्रकाशः

त्वन्मतामृतपानोत्था, इतः शमरसोर्मयः ।
पराणयन्ति मां नाथ !, परमानन्दसम्पदम् ॥१॥

अर्थ - हे नाथ ! एक तरफ आपके मतरूपी (आम्ररूपी) अमृत के पान से उत्पन्न हुए समतारूपी रस की तरङ्गें मुझे परमानन्द की लक्ष्मी को प्राप्त कराते हैं । (१)

इतश्चानादिसंस्कार-मूर्च्छितो मूर्च्छयत्यलम् ।
रागोरगविषावेगो, हताशः करवाणि किम् ? ॥२॥

अर्थ - तथा दूसरी तरफ अनादि काल के भवभ्रमण के संस्कार से उत्पन्न रागरूपी सर्प के विष का वेग मुझे अति मूर्छा प्राप्त करातो हैं । (अर्थात् सत्यज्ञान से रहित कर देता है), इसलिये हत हुई आशावाला मैं क्या करूँ ? । (२)

रागाहिगरलाघ्रातोऽकार्षं यत्कर्मवैशसम् ।
तद् वक्तुमप्यशक्तोऽस्मि, धिग्मे प्रच्छन्नप्रापताम् ? ॥३॥

अर्थ - [हे प्रभु !] रागरूपी सर्प के विष से व्याप्त मैंने जो अयोग्य कृत्य-कार्य किया है, वह आपके पास कहने के लिये भी मैं असमर्थ हूँ। उससे मेरा प्रच्छन्न अर्थात् गुप्त पाप करनेवाले मुझको धिक्कार है । (३)

क्षणं सक्तः क्षणं मुक्तः, क्षणं क्रुद्धः क्षणं क्षमी ।
मोहाद्यैः क्रीडयैवाऽहं, कारितः कपिचापलम् ॥४॥

अर्थ - [हे प्रभु !] मैं कईबार संसार के सुख में आशक्त हुआ हूँ तो कईबार उससे मुक्त अर्थात् निर्लोभ हुआ हूँ। कईबार क्रोधवान् हुआ हूँ तो कईबार क्षमावान् हुआ हूँ, इस तरह मोहादि ने मुझे बन्दर की तरह चपलता कराई है। अर्थात् बन्दर की तरह नचाया है। (४)

प्राप्यापि तव सम्बोधिं, मनोवाक्कायकर्मजैः ।
दुश्चेष्टितैर्मया नाथ !, शिरसि ज्वालितोऽनलः ॥५॥

अर्थ - हे नाथ ! आपके धर्म की प्राप्ति होने पर भी मन वचन और काया के कर्म से उत्पन्न हुई दुष्ट चेष्टाओं के द्वारा मैंने अपने मस्तक पर अग्नि सुलगायी है [अर्थात्-दुर्गति के दुःख का उपार्जन किया है]। (५)

त्वय्यपि त्रातरि त्रातर्यन्मोहादिमलिम्लुचैः ।
रत्नत्रयं मे ह्रियते, हताशो हा ! हतोऽस्मि तत् ॥६॥

अर्थ - हे रक्षक ! आप रक्षण करने वाले होते हुए भी मोहादि शत्रु मेरे ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप तीन रत्नों का हरण करते हैं। उससे हत आशा वाला मैं मारा गाया हूँ। (६)

भ्रान्तस्तीर्थानि दृष्टस्त्व, मयैकस्तेषु तारकः ।
तत् तवाङ्घ्रौ विलग्नोऽस्मि, नाथ ! तारय तारय ॥७॥

अर्थ - हे स्वामिन् ! मैं अनेक तीर्थों में भ्रमण किया हूँ (घूमा-फिरा हूँ,) उन सबों में आपको ही देखा। उससे मैं

आपके चरण में लगा हुआ हूँ, इसलिये मुझे संसार सागर से तारो, तारो । (७)

भवत्प्रसादेनैवाह-मियतीं प्रापितो भुवम् ।
औदासीन्येन नेदानीं, तव युक्तमुपेक्षितुम् ॥८॥

अर्थ - [हे कृपालु !] आपकी कृपा से ही मैंने इतनी भूमिका को (आपकी सेवा की योग्यता को) पाया है। अब तो आपको उदासीनता के द्वारा मेरी उपेक्षा करना योग्य नहीं है। (८)

ज्ञाता तात ! त्वमेवैकस्त्वत्तो नान्यः कृपापरः ।
नान्यो मत्तः कृपापात्रमेधि यत्कृत्यकर्मठः ॥८॥

अर्थ - हे तात ! आप ही एक ज्ञाता हैं, आप से अन्य कोई कृपा में तत्पर नहीं और मेरे बिना दूसरा कोई कृपा का पात्र भी नहीं। उससे आप ही करने योग्य कार्य में तत्पर हों। (९)

• • •

सप्तदश प्रकाशः

स्वकृतं दुष्कृतं गर्हन्, सुकृतं चाऽनुमोदयन् ।
नाथ ! त्वच्चरणौ यामि, शरणं शरणोज्झितः ॥१॥

हे नाथ ! स्वयं किये हुए दुष्कर्म की (मैं) गर्हा याने निन्दा करते हुए और सुकृत की अनुमोदना करते हुए शरण रहित मैं आपके चरण को शरण करता हूँ । (१)

मनोवाक्कायजे पापे, कृतानुमतिकारितैः ।
मिथ्या मे दुष्कृतं भूयाद्पुनः क्रिययान्वितम् ॥२॥

अर्थ – [हे भगवन् !] करना, कराना और अनुमोदना इन तीनों के द्वारा मन, वचन और काया से उत्पन्न होते हुए पाप में जो मुझे दुष्कृत लगा हो, वह फिर से नहीं करने की भावनापूर्वक मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । (२)

यत् कृतं सुकृतं किञ्चिद्, रत्नत्रितयगोचरम् ।
तत्सर्वमनुमन्येऽहं, मार्गमात्रानुसार्यपि ॥३॥

अर्थ – [हे देवाधिदेव !] मात्र आपके मार्ग को ही जो अनुसरन करनेवाला हो ऐसा भी यदि कोई ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप रत्नत्रय के विषयवान् मेरा सुकृत हो तो उन सबकी मैं अनुमोदना करता हूँ । (३)

सर्वेषामर्हदादीनां, यो योऽर्हत्त्वादिको गुणः ।
अनुमोदयामि तं तं, सर्वं तेषां महात्मनाम् ॥४॥

अर्थ - समस्त तीर्थङ्करादि के (अर्थात्-अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय एवं साधु के) अरिहन्तावस्थादि जो जो गुण हों, उन सभी महात्माओं के उन सभी गुणों की मैं (हार्दिक) अनुमोदना करता हूँ। (४)

त्वां त्वत्फलभूतान् सिद्धांस्त्वच्छासनरतान् मुनीन् ।
त्वच्छासनं च शरणं, प्रतिपन्नोऽस्मि भावतः ॥५॥

अर्थ - [हे शरण्य वीतराग परमात्मन् !] मैं आपका, आपके फलभूत याने आपकी बताई हुई क्रिया करने के फलरूप सिद्धों का, आपके शासन में रक्त बने हुए मुनियों का और आपके शासन का भाव से (अन्तःकरण-हृदय की शुद्धि से) शरण पाया हूं। अर्थात् आपकी शरणे रहा हूँ। (५)

क्षमयामि सर्वान् सत्त्वान्, सर्वे क्षाम्यन्तु ते मयि ।
मैत्र्यस्तु तेषु सर्वेषु, त्वदेकशरणस्य मे ॥६॥

अर्थ - [हे क्षमासिन्धु वीतराग विभु !] मैं समस्त (चौराशी लाख जीवयोनि में विद्यमान) जीवों को क्षमा करता हूँ, और वे सभी जीव मेरे ऊपर क्षमा करें। आपकी ही एक शरण में स्थित मुझे उन सभी जीवों पर मैत्री हो। (६)

एकोऽहं नास्ति मे कश्चिन् न चाहमपि कस्यचित् ।
त्वदङ्घ्रिशरणस्थस्य, मम दैन्यं न किञ्चन ॥७॥

अर्थ - [हे विश्वेश वीतराग देव !] मैं अकेला ही हूँ,

मेरा कोई नहीं, मैं भी किसी का नहीं । आपके चरणों के शरण में स्थित मेरे अन्दर कोई भी दीनता नहीं । (७)

यावन्नाप्नोमि पदवीं, परां त्वदनुभावजाम् ।
तावन्मयि शरण्यत्वं, मा मुंच शरणं श्रिते ॥८॥

अर्थ – [हे शरणागतवत्सल प्रभु !] आपके प्रसाद से उत्पन्न हुई उत्कृष्ट पदवी अर्थात् मुक्ति को मैं जब तक नहीं पाऊँ तब तक (आपके) शरण को पाये हुए मेरी शरण्यता को त्यागना नहीं । (८)

• • •

अष्टादशः प्रकाशः

न परं नाम मृद्वेव, कठोरमपि किञ्चन ।
विशेषज्ञाय विज्ञप्यं, स्वामिने स्वान्तशुद्धये ॥१॥

अर्थ - [हे सर्वज्ञदेव !] केवल कोमल वचनों से ही नहीं बल्कि विशेष जानने वाले आप जैसे स्वामी को अपने मन की शुद्धि के लिये कुछ कठोर वचनों से भी विज्ञप्ति-(विनंति) की जाती है । (१)

न पक्षिपशुसिंहादि-वाहनासीनविग्रहः ।
न नेत्र-गात्र-वक्त्रादि-विकारविकृताकृतिः ॥२॥

अर्थ - [हे नाथ !] आप ने हंस, गरूड़ आदि पक्षी, वृषभ आदि पशुओं तथा सिंह प्रमुख वाहनों पर काया को आरूढ नहीं किया, तथा नेत्र, गात्र और मुख आदि के विकार द्वारा आपकी आकृति विकारवाली नहीं हुई । (२)

न शूलचापचक्रादि-शस्त्राङ्करपल्लवः ।
नाङ्गनाकमनीयाङ्गपरिष्वङ्गपरायणः ॥३॥

अर्थ - [हे प्रभो !] आपके कररूपी पल्लव के मध्य में त्रिशूल, धनुष्य और चक्रादि शस्त्र नहीं हैं तथा आप स्त्री के मनोहर अंगों का आलिंगन करने में तत्पर नहीं हैं । (३)

न गर्हणीयचरित-प्रकम्पितमहाजनः ।
न प्रकोपप्रसादादि-विडम्बितनरामरः ॥४॥

अर्थ – निन्दा करने योग्य चरित्र के द्वारा आप ने महापुरुषों को कम्पित नहीं किया तथा कोप और कृपादि द्वारा मनुष्यों और देवों को विडम्बना प्रदान नहीं किया । (४)

न जगज्जननस्थेम–विनाशविहितादरः ।
न लास्यहास्यगीतादि–विप्लवोपप्लुतस्थितिः ॥५॥

अर्थ – विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय (विनाश) करने में आपने उद्यम नहीं किया तथा नट–विट के उचित ऐसे नृत्य, हास्य और गीतादि विलासों के द्वारा आपने आपनी स्थिति को उपद्रव वाली नहीं की । (५)

तदेवं सर्वदेवेभ्यः, सर्वथा त्वं विलक्षणः ।
देवत्वेन प्रतिष्ठाप्यः, कथं नाम परीक्षकैः ? ॥६॥

अर्थ – इस प्रकार पूर्वकथरानुसार आप सभी देवों से सर्वथा आप विलक्षण हैं, अतः परीक्षक आपको किस तरह देव के रूप में स्थापना कर सकते हैं ? । (६)

अनुश्रोतः सरत्पर्ण–तृणकाष्ठादियुक्तिमत् ।
प्रतिश्रोतः श्रयद्वस्तु, कया युक्त्या प्रतीयताम् ? ॥७॥

अर्थ – [हे प्रभो !] पत्ते, घास, काष्ठादि वस्तु जल के प्रवाह के अनुसार चले वह तो युक्तिसंगत है, किन्तु ऐसी वस्तु विपरीत प्रवाह में चले, वह कौनसी युक्ति द्वारा लोग मान सकते हैं ? । (७)

अथवाऽलं मन्दबुद्धि-परीक्षकपरीक्षणैः ।
ममापि कृतमेतेन, वैयात्येन जगत्प्रभो ! ॥८॥

अर्थ - अथवा तो हे जगत्प्रभो ! मन्द बुद्धि वाले परीक्षकों की परीक्षा द्वारा उत्तीर्ण हो गए, उसी प्रकार मुझे भी इस परीक्षा करने का कदाग्रह से उत्तीर्ण करें । (८)

यदेव सर्वसंसारि-जन्तुरूपविलक्षणम् ।
परीक्षन्तां कृतधियस्तदेव तव लक्षणम् ॥९॥

अर्थ - [हे नाथ !] सभी संसारी जीवों के स्वरूप से यदि कोई भी विलक्षण हो, वही आपके देवत्व के लक्षण हैं । इस तरह विद्वद्जन विचार करें । (९)

क्रोधलोभभयाक्रान्तं, जगदस्माद्विलक्षणः ।
न गोचरो मृदुधियां, वीतराग ! कथञ्चन ॥१०॥

अर्थ - [हे वीतराग !] यह सम्पूर्ण विश्व क्रोध, लोभ और भय से व्याप्त है और आप उससे विलक्षण हैं, इसलिये जिनशासन को नहीं जानने वाले अल्प बुद्धि वाले जीवों को आप किसी भी प्रकार से गोचर याने प्रत्यक्ष नहीं हैं । (१०)

• • •

एकोनविंशतितमः प्रकाशः

तव चेतसि वर्तेऽह-मिति वार्त्ताऽपि दुर्लभा ।
मच्चित्ते वर्तसे चेत्त्व-मलमन्येन केनचित् ॥१॥

अर्थ - [हे देवाधिदेव !] मैं आपके अन्तःकरण अर्थात् चित्त में वर्तुं (रहूँ) यह वार्ता ही दुर्लभ (असंभवित) है । किन्तु जो आप मेरे अन्तःकरण याने चित्त में वर्त्तें (रहें) तो अन्य कोई भी (प्रभुतादि देने) द्वारा सर्यां (अर्थात् आपके अतिरिक्त मुझे किसी की आवश्यकता नहीं । (१)

निगृह्य कोपतः कांश्चित्, कांश्चित्तुष्ट्याऽनुगृह्य च ।
प्रतार्यन्ते मृदुधियः प्रलम्भनपरैः परैः ॥२॥

अर्थ - अन्य (हरिहरादि) देव कितने को क्रोध से शापवधादि के द्वारा निग्रह करके तथा कितने (अपने भक्तजनों) को प्रसन्नता द्वारा वरदानादि देकर अनुग्रह करके मुग्धबुद्धि वाले जनों को ठगते हैं उससे आप जिस के चित्त में निवास करते हैं, वे मनुष्य उन देवों से ठगते नहीं और इसी तरह मेरे चित्त में निवास करते हैं, तो मैं कृतकृत्य ही हूँ । (२)

अप्रसन्नात् कथं प्राप्यं, फलमेतदसङ्गतम् ।
चिन्तामण्यादयः किं न, फलन्त्यपि विचेतनाः ॥३॥

अर्थ - राग और द्वेषादि का अभाव होने से कभी भी प्रसन्न नहीं होने वाले ऐसे वीतराग देव से किस तरह (मोक्षादि)

फल प्राप्त कर सकें ? इस तरह कोई शंका करे तो उसका कहना अयोग्य है, कारण कि चिन्तामणि रत्नादि विशिष्ट चेतनारहित ऐसे पदार्थ क्या फलीभूत नहीं होते हैं ? अर्थात् चेतनारहित पदार्थ किसी पर प्रसन्न ही नहीं होते, तो भी उनका विधिपूर्वक आराधना करने से उसका फल प्राप्त होता है, उसी तरह वीतराग भी फल देने वाले कहलाते हैं। (३)

वीतराग ! सपर्यात-स्तवाज्ञापालनं परम् ।
आज्ञाऽऽराद्धा विराद्धा च, शिवाय च भवाय च ॥४॥

अर्थ - हे वीतराग ! आपकी सेवा (पूजा) से आपकी आज्ञा का पालन करना वह भावस्तव रूप होने से उत्कृष्ट फल को देने वाली है, क्योंकि आपकी आज्ञा की आराधना मोक्ष के लिये है और आपकी आज्ञाकी विराधना संसार के लिये है। (४)

आकालमियमाज्ञा ते, हेयोपादेयगोचरा ।
आश्रवः सर्वथा हेय, उपादेयश्च संवरः ॥५॥

अर्थ - [हे प्रभो !] हेय (त्याग करने योग्य) और उपादेय (ग्रहण करने योग्य) स्वरूप वाली ऐसी आपकी आज्ञा सर्वदा एक ही समान रहती है। वह कषाय, विषय, प्रमाद इत्यादि स्वरूपवाला आश्रव तत्त्व सर्व प्रकार से हेय-त्याग करने योग्य है तथा सत्य, शौच, क्षमा इत्यादि स्वरूपवाला संवर तत्त्व सर्व प्रकार से उपादेय-ग्रहण करने योग्य है। (५)

आश्रवो भवहेतुः स्यात्, संवरो मोक्षकारणम् ।
इतीयमार्हतीमुष्टि-रन्यदस्याः प्रपञ्चनम् ॥६॥

अर्थ - आश्रव संसार का कारण है और संवर मोक्ष का कारण है । इस तरह यह आज्ञा अर्हत् सम्बन्धी मुष्टि अर्थात् अरिहन्त परमात्मा के समस्त उपदेश के सार रूप मूल ग्रन्थि है । अङ्ग और उपाङ्ग आदि में किया हुआ अन्य सब इसीका विस्तार है । (६)

इत्याज्ञाराधनपरा, अनन्ताः परिनिर्वृताः ।
निर्वान्ति चान्ये क्वचन, निर्वास्यन्ति तथापरे ॥७॥

अर्थ - इस तरह आपकी आज्ञा आराधना में तत्पर ऐसे अनन्त जीव पूर्वकाल में मोक्ष पाये हैं, अन्य कितने जीवों वर्तमान काल में क्वचित् स्थल में अर्थात् महाविदेहादि क्षेत्र में मोक्ष पाते हैं और भविष्य काल में भी (अनन्त जीव) मोक्ष पायेंगे । (७)

हित्वा प्रसादनादैन्य-मेकयैव त्वदाज्ञया ।
सर्वथैव विमुच्यन्ते, जन्मिनः कर्मपञ्जरात् ॥८॥

अर्थ - हे वीतराग ! अन्य (देव) को प्रसन्न करने के लिये की जानेवाली दीनता याने खुशामद-आजीजी को त्याग कर मात्र एक आपकी आज्ञा द्वारा ही जीव सर्वथा कर्मरूपी पिञ्जरे से मुक्त होते हैं । (८)

• • •

विंशतितम प्रकाशः

पादपीठलुठन् मूर्ध्नि, मयि पादरजस्तव ।
चिरं निवसतां पुण्य-परमाणुकणोपमम् ॥१॥

अर्थ - हे विश्ववन्द्य वीतराग विभु ! आपके पादपीठ में मस्तक को झुकाते हुए मेरे ललाट में पुण्य परमाणु के कण जैसे आपके चरणरज चिरकाल (संसार में जहाँ तक रहूँ तब तक) रहे । (१)

मद्दृशौ त्वन्मुखासक्ते, हर्षबाष्पजलोर्मिभिः ।
अप्रेक्ष्यप्रेक्षणोद्भूतं, क्षणात् क्षालयतां मलम् ॥२॥

अर्थ - हे देवाधिदेव ! पूर्व में नहीं देखने योग्य परस्त्री, कुदेव इत्यादि देखने से उत्पन्न हुए, पाप रूप मल को अभी आपके मुख में आसक्त हुए ऐसे मेरे ये नेत्र हर्षाश्रु के जलतरंग द्वारा क्षण भर में धो डालते । (२)

त्वत् पुरो लुठनैर्भूयान्, मद् भालस्य तपस्विनः ।
कृतासेव्यप्रणामस्य, प्रायश्चित्तं किणावलिः ॥३॥

अर्थ - हे सर्वज्ञ प्रभु ! प्रथम हरि-हरादि असेव्य को प्रणाम करनेवाला यह बिचारा (कृपा के स्थान रूप) मेरे ललाट को आपके पास आलोटने से (नमस्कार करने से) पडी हुई क्षत की (चिह्न की) श्रेणी ही प्रायश्चित्तरूप हो ! अर्थात् असेव्य को प्रणाम करने से लगे हुए पाप दूर हों ! । (३)

मम त्वद् दर्शनोद्भूता-श्चिरं रोमञ्चकण्टकाः ।
नुदन्तां चिरकालोत्था-मसद् दर्शनवासनाम् ॥४॥

अर्थ - हे पुरुषोत्तम प्रभु ! मुझे आपके दर्शन से उत्पन्न हुए रोमांचरूपी कण्टक चिरकाल से अर्थात् अनादि काल के भवभ्रमण से उत्पन्न हुई कुदर्शन की कुवासना को जब तक मैं संसार में रहूँ तब तक अति पीडा करे (अर्थात् कण्टक द्वारा पीडा होने से बाहर निकल जाए) । (४)

त्वद् वक्त्रकान्तिज्योत्स्नासु, निपीतासु सुधास्विव ।
मदीयैर्लोचनाम्भोजैः, प्राप्यतां निर्निमेषता ॥५॥

अर्थ - हे जगदानंदन ! अमृत के जैसी आपके मुख की कान्तिरूपी ज्योत्स्ना का पान करने से मेरे लोचनरूपी कमल निर्निमेषता को प्राप्त करे । (चन्द्रज्योत्स्ना का पान करने से चन्द्रविकासी कमल निर्निमेष-विकस्वरता को प्राप्त करते हैं, और सुधा का पान करने से नेत्र निमेष [मटका] रहितता को प्राप्त करते हैं । इसलिये यहाँ नेत्र को कमल की उपमा दी गई) । (५)

त्वदास्यलासिनी नेत्रे, त्वदुपास्तिकरौ करौ ।
त्वद् गुणश्रोतृणी श्रोत्रे, भूयास्तां सर्वदा मम ॥६॥

अर्थ - हे प्रभु ! मेरे दो नेत्र नित्य आपके वदन-मुख को देखने में लालसा वाले हों । मेरे दो हाथ आपकी सेवा करने वाले हों और मेरे दो कान आपके गुण श्रवण

करनेवाले हों । (६)

कुण्ठाऽपि यदि सोत्कण्ठा, त्वद्गुणग्रहणं प्रति ।
ममैषा भारती तर्हि, स्वस्त्येतस्यै किमन्यया ।।७।।

अर्थ – हे स्वामिन् ! कुंठित अर्थात् स्थूल ऐसी मेरी यह वाणी (सूक्ष्म अर्थवाले आगम में स्खलना प्राप्त हुए भी) आपके गुण ग्रहण करने में उत्कंठावाली हों तो यही वाणी का कल्याण हो । अन्य वाणी द्वारा क्या काम है ? कुछ नहीं । (७)

तव प्रेष्योऽस्मि दासोऽस्मि, सेवकोऽस्म्यस्मि किङ्करः ।
ओमिति प्रतिपद्यस्व, नाथ ! नातः परं ब्रुवे ।।८।।

अर्थ – हे नाथ ! मैं आपका प्रेष्य (संदेश वाहक) हूँ, दास (गुलाम) हूँ, सेवक (सेवा करनेवाला हूँ, और किङ्कर (नोकर) हूँ । उससे आप 'ओम्' (यह मेरा है) इस अक्षर को मात्र स्वीकार करें । इससे अधिक मैं कुछ नहीं कहता अर्थात् कुछ भी नहीं मांगता । (८)

श्रीहेमचन्द्रप्रभवाद्, वीतरागस्तवादितः ।
कुमारपालभूपालः, प्राप्नोतु फलमीप्सितम् ।।९।।

अर्थ – श्रीहेमचन्द्रसूरि के द्वारा रचे हुए इस वीतराग स्तोत्र कुमारपाल भूपाल से इच्छित फल को प्राप्त करे । (९)

• • •

: ज्ञान द्रव्य से लाभार्थी :

श्री मुनिसुव्रतस्वामी श्वेताम्बर मूर्ति पूजक जैन संघ

210/212, कोकरन बेसिन रोड,
विद्यासागर ओसवाल गार्डन,
कुरूक्कुपेट, चेन्नई 600021

BALARAM OFFSET
+91-9898034899